बाल-शिक्षा-शाला।

लेखक और प्रकाशक

बद्री साह प्लीडर।

बाबू विश्वम्भरनाथ भार्गव के प्रबन्ध से स्टैंडर्ड प्रेस, 'रामनाथ भवन' इलाहाबाद में मुद्रित।

सन् १९१७

अल्मोड़ा यू० पी०

मूल्य ॥)

भूमिका।

इस पुस्तक की भूमिका की कोई आवश्यकता न थी, ऐसी छोटी पुस्तकोंको भूमिका हो ही क्या सकती है, किन्तु स्वनाम-धन्य एक महाशय ने भूमिका लिखी जाने का अनुरोध किया। आपने कारण इसका यह बताया कि :—

१—लोगों के चित्त में यह शङ्का उत्पन्न होनी सम्भव है कि वकालत वृत्ति वाले मनुष्य को शिक्षा सम्बन्धी विषय में लेखनी उठाने का अधिकार क्या।

२—इन दिनों भारत में, विशेषतः संयुक्त प्रान्त में, मातृ-भाषा में लिखी हुई पुस्तकें पढ़ना समय नष्ट करना समझा जाता है, दैवात् ऐसी पुस्तक पर यदि किसी का कृपा कटाक्ष हो बैठा तो वह भूमिका खोजने लगता है, जिससे उसको पुस्तक का सार मिल जाय। अतः पुस्तक का भाव दर्शाने के निमित्त भूमिका अवश्यमेव लिखी जानी चाहिये॥

यह बात युक्तिसङ्गत जान पड़ी। यद्यपि भूमिका से पुस्तक की पूर्ण प्रतिमा दर्शाई नहीं जा सकती है, तथापि भूमिकारूप में एक-दो बातें लिख देना अनुचित न होगा।

२

शिक्षा सम्बन्धी विषय ने इन दिनों भारत का ध्यान आकर्षित कर रखा है। आबाल वृद्ध सब अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार इस मीमांसा में लगे हुये हैं। भारत को अब यह सूझने लगा है कि समष्टि रूप और व्यष्टि रूप से उसका उदयावपात उसकी शिक्षाशैली से सटा हुवा है, जिसका फल यह हुवा कि वर्तमान शिक्षा-शैली के विद्यमान परिणामों का अनुभव और

भावी परिणामों का अनुमान करने से भारत की दशा ठीक ऐसी हो गई कि जैसी किसी जहाज़ के चट्टान में टकराने से नींद से जगे हुये उसके मल्लाहों की हो जाती है। ऐसी अवस्था में यह स्वभावानुकूल ही है कि वकालत वृत्तिवालों का भी ध्यान इस ओर चला जाय।

अपरञ्च वकालत के पूर्व कुछ समय अध्ययन वृत्ति भी रही. तब जो जो अनुभव प्राप्त हुए उनका मन्थन करने से, अपनी छात्रावस्था और शिक्षकावस्था के दिनों की शिक्षा-शैलियों और उनके वर्तमान परिणामों का विचार करने से, वर्तमान शिक्षा-शैली के अनुसार अच्छे समझे जाने वाले अधिकांश व्यक्तियों में आसुरी सम्पद्†का आधिक्य देखे जानेसे, शिक्षा सम्बन्धी

---

† दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्य मेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥
प्रवृतिं च निवृतिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्प बुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्र कर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥
काम माश्रित्य दुष्पूरं दम्भमान मदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्ते ऽशुचि व्रताः॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोग परमा एतावदिति निश्चिताः॥
आशापाश शतैर्बद्धाः काम क्रोध परायणाः।
ईहन्ते काम भोगार्थ मन्यायेनार्थ संचयान्॥
अनेक चित्त विभ्रान्ता मोह जाल समावृताः।
प्रसक्ताः काम भोगेषु ... ... ॥
आत्म संभाविताः स्तब्धा धन मान मदान्विताः।
मामात्म पर देहेषु प्रद्विषन्तो ऽभ्य सूयकाः॥
गीता. अ. १६. श्लो० ४, ७, ८, १०, ११, १२ १६. १७, १८

विषयों के रसिक और पारदृश्वा अपने कतिपय विद्वद्जनो के सिद्धान्तों को सुन कर मनमें यह तरङ्ग उठी कि ये विचार अपने लोगों से निवेदन किये जायं। बस यही कारण है कि यह बाल-शिक्षा शैली अपने लोगों के सामने रखी जाती है।

३

मनुष्य मात्र का लक्ष्य है अभ्युदय और निश्रेयस् अर्थात् ऐहिक उन्नति और आमुष्मिक आनन्द, इनका मूल है दैवी सम्पद्*; जिसको यह सम्पद् प्राप्त हुई उसको मानो चिन्ता-मणि मिल गई, और जो इससे वञ्चित रहा वह संसार-सागर में गोता लगाता रहा किन्तु मोती मनोरथ का उसने कभी न पाया। स्मरण रहे कि दैवी सम्पद्-रूपी पद्म खिलता है अनुकूल शिक्षा-रूप भगवान तिमिरारि के प्रकाश में नकि प्रतिकूल शिक्षा-रूपी कुमुद-बान्धव की कौमुदी में चाहे कार्तिकी पौर्णिमा ही क्यों न हो।

जिस शिक्षा से मनुष्य में दैवी सम्पद् का उदय हो वास्तव में उसी का नाम शिक्षा है, तदितर सब पेट पालने की कला मात्र जाननी चाहियें। विचार करने से वर्तमान शिक्षा-शैली भी उदर पोषण की एक कला विशेष जान पड़ती है; इतना ही नहीं वरन अनेक कारणों से वह दैवी सम्पद् के अनुकूल हो नहीं सकती।

---

* अभयं सत्त्व संशुद्धिर्ज्ञान योग व्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्याय स्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्य म क्रोधस्त्यागः शान्ति रपैशुनम् ।
दया भूतेपु लोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौच मद्रोहो नाति मानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवी मभिजातस्य भारत ॥
गीता, अ, १६ श्लो. १. २. ३

यह दैवी सम्पद् प्राप्त होती है न पुस्तकों के पाठ करने से, न बड़ी बड़ी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने से, यह प्राप्त होती है अपने वास्तविक रूप से तम के आवरण पटों को हटाने से, ज्यों ज्यों ये तामसिक आवरण पट हटते जाते हैं त्यों-त्यों मनुष्य में दैवी सम्पद् का आधिक्य होता जाता है। तम के आवरण पट हटते हैं आत्मिक, मानसिक, हार्दिक और शारीरिक शक्तियों को जागृत करने और जागृत हुई उन शक्तियों को तीव्र करने से, जिसके लिये बाल्यावस्था से ही अभ्यास करना पड़ता है।

किन्तु वर्तमान शिक्षा-शैली के अनुसार ऐसा अभ्यास तो हो नहीं सकता प्रत्युत जीवन का सर्वोत्तम भाग परीक्षोत्तीर्ण होने और अनावश्यक विषयों में पाण्डित्य प्राप्त करने में चला जाता है और तब दैवी सम्पद् के संस्कार डालना ठीक ऐसाही हो जाता है जैसा कि वर्षा के बीत जाने पर धान का बोना।

अतः वर्तमान शिक्षा-शैली में परिवर्तन होना अत्यावश्यक जान पड़ता है, बिना ऐसा हुये भारत की नौका का पार लगना नितान्त कठिन जान पड़ता है। वर्तमान शिक्षा-शैली में जो दोष हैं और जो दूसरी शैली अभीष्ट जान पड़ती है वे इस पुस्तक में संक्षेप रूप में दर्शाये गये हैं।

किन्तु कभी यह नहीं कहा जा सकता कि यह बाल-शिक्षा शैली अद्वितीय शैली है, और न यह आग्रह है कि इसी शैली के अनुसार बालकों को शिक्षा दी जाय; कहना केवल इतना है कि वर्तमान शिक्षा-शैली का परिणाम श्रेयस्कर हो नहीं सकता। अतः किसी ऐसी शैली का अवलम्बन होना चाहिये कि जिससे बालकों में दैवी सम्पद् का उदय और सम्वर्धन हो, ऐसा हो जाने पर उनको पेट के लिये आकाश-पाताल करने की आवश्यकता न रहेगी, वरन गुणलुब्धा श्री उनको स्वयँ ढूढेंगी।

४

इस संसार रूपी विश्व-विद्यालय में मनुष्य जन्मपर्य्यन्त शिष्य हो रहता है, कदापि वह आचार्य्य हो नहीं सकता ; भगवती प्रकृति के आचार्य्यत्व में वह ज्ञात्वा अज्ञात्वा वा सदा कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। तथापि सामान्य शिक्षा-काल के तीन भाग होते हैं :—

प्रथम—बाल-शिक्षा-काल जिसमें बालक की चित्त रूपी भूमि सँवारी जाकर उसमें जातिगत और व्यक्तिगत अभ्युदय और निश्रेयस का बीज बोया जाता है। इस काल में शिक्षा का समस्त भार मुख्य रूप से पिता पर अथवा पितृ स्थानीय किसी पुरुष पर, और गौण रूप से अध्यापक पर होता है।

द्वितीय—माध्यमिक-शिक्षा-काल जिसमें बाल-शिक्षा-काल में बोया हुआ बीज अंकुरित हो जाता है। इस काल में शिक्षा का भार मुख्य रूप से आचार्य्य पर, और गौण रूप से पिता आदि पर होता है। मनस्वी यत्नवान विद्यार्थी स्वयं अपने उद्योग से भी इस काल में कृत-कृत्य हो सकता है।

तृतीय—सामावर्तिक-शिक्षा-काल जिसमें माध्यमिक-शिक्षा काल का अंकुर वृक्ष होकर प्रसवोन्मुख हो जाता है, और तब विविध प्रकार के उत्पातों से उसकी रक्षा की जाती है, देश देशान्तरों की उपयुक्त विद्याओं की मधुकिरी के जल से उसकी सिंचाई करनी पड़ती है। इस काम में अधिक अधिकांश भार राजा पर और शेषांश आचार्यों पर होता है। यदि कारण वशात् राजा इस भार को सहन न करे तो वह भार लौकिक-संस्थाओं पर चला जाता है। स्मरण रहे कि

जिस देश में उक्त भार लौकिक-संस्थाओं पर होता है वह उस देश से सर्वथा अच्छा रहता है जिसमें वह भार राजा को दिया होता है, क्योंकि रघुवंश में भी अग्निवर्ण के समान कर्तव्य विमुख शासक हो जाते हैं, राजा और प्रजा में अनेक वार अर्थवैपर्य्य हो जाता है, और तव प्रजा को यथार्थ शिक्षा का मिलन कठिन हो जाता है। किन्तु लौकिक-संस्थाओं के हाथ में शिक्षा के रहने से ऐसा होने नहीं पाता।

इन्हीं तीन कालों की शिक्षा-शैलियों के मिलने से पूर्ण शिक्षा-शैली वनती है। इस समय केवल वाल-शिक्षा-शैली ही प्रकाश की जाती है; जव तक यह निश्चय न हो जाय कि यह वाल-शिक्षा-शैली अपने लोगों को अच्छी लगी, तव तक अन्य दो शिक्षा-शैलियों को प्रकाश करना वृथा है।

यदि यह वाल-शिक्षा-शैली अच्छी समझी जावे तो प्रत्येक गृहस्थ को और प्रत्येक युवक को जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने को हैं इसकी एक प्रति अपने पास रख कर और मनन करके यह देखना चाहिये कि इसमें कितना न्यूनाधिक है और कितना इसमें परिवर्तन होना चाहिये; और कृपया इन वातों की मुझे सूचना भी मिल जानी चाहिये, जिससे इन भिन्न-भिन्न मतोंका मन्थन होकर कोई शिक्षा सम्वन्धी सिद्धान्त प्राप्त हो, क्योंकि 'वादे वादे जायते तत्व वोधः' ॥

५

एक अच्छे समालोचक प्रियजन ने इस पुस्तक में तीन त्रुटियां वताईं कि:—(१) इसमें वालिकाओं के निमित्त कुछ नहीं कहा गया, (२) न कोई ऐसा उपाय कहा गया कि जिससे यह वाल-शिक्षा-शैली जातीय शैली वन सके अर्थात् इसका

सार्वजनिक प्रयोग हो सके, (३) यह पूर्व-कल्पना कर ली गई है कि सब मनुष्य इस योग्य हैं कि वे इस शैलीको काममें ला सकें।

निवेदन है कि यह शिक्षा-शैली केवल बालकों के निमित्त लिखी गई है, नकि बालिकाओं के लिये। इसमें पौरुष गुणों की जागृति और सम्वर्धन का पथ सूचित किया गया है, नकि स्त्रैण गुणों का ; भगवती प्रकृति ने स्त्री पुरुषों को भिन्न-भिन्न कार्य्य के हेतु भिन्न-भिन्न गुण दिये हैं, अतः उनमें इन्हीं भिन्न-भिन्न गुणों का सम्वर्धन होना चाहिये। स्त्री पुरुषों में विपरीत गुणों के सम्वर्धन से कभी श्रेय हो नहीं सकता ; विपरीत गुण वाले दम्पती की नतो सन्तति अच्छी होती है, और न तब तक उनके दिन सुख और शान्ति से कटते हैं कि जब तक एक ओर धन का प्राचुर्य और दूसरी ओर सस्ते और अच्छे नौकरों की पैंठ लगी न हो। अतः गुण धर्म की भिन्नता से बालिकाओं के निमित्त इस शिक्षा-शैली में कुछ नहीं कहा गया है।

और जब तक यह निश्चय नहो जाय कि अपनी जाति इस शिक्षा-शैली को अपनाया चाहती है, और शिक्षित समाज ने इसको अपना लिया है ; तब तक इसको जातीय शिक्षा-शैली बनाने के लिये कुछ लिखना ठीक ऐसा है कि जैसा सूम को विश्वजित् यज्ञ का उपदेश करना और कायर को दिग्विजय की विधि बताना। जब हमारी जाति को अपनी शिक्षा अपने हाथमें लेनेकी उत्कण्ठा हो जायगी, तो उपाय बिना कार्य्य नहींरुकेगा।

इस समय देखना केवल यह है कि हमारी शिक्षित समाज की आखें अभी खुलीं कि नहीं, इतने वर्षों की शिक्षा ने एक सैकड़ा भी ऐसे लोग बनाये कि नहीं जो किसी द्रोह शून्य और मितव्यय वाली शिक्षा को अपनासकें।

अनेक महाशयों की यह सम्मति है कि यद्यपि यह बाल-शिक्षा-शैली बहुत सुन्दर शैली है और अनायास काम में भी

लाई जा सकती है, किन्तु ऐसा कभी होगा नहीं, क्योंकि इन दिनों भारत में नौकरी सर्वस्व समझी जा रही है, किन्तु वह इस शैली के अनुसार शिक्षा पाये हुओं को मिल नहीं सकती।

इसके उत्तर में यह निवेदन है कि :—

(१) जो मनुष्य अथवा जो जाति किसी काम को अच्छा समझते हुए और उसको करने की सामर्थ्य रखते हुए भी उस से मुख मोड़े, चाकरी जिसका लक्ष्य हो गया हो, परिचर्य्या के अतिरिक्त जिसे निर्वाह का कोई और उपाय सूझता ही नहो, जो नौकरी को शिक्षा रूपी वृक्ष का फल समझे हुए हो, जिसे दूसरों के भरोसे रहने का अभ्यास पड़ गया हो जानिये कि उस मनुष्य अथवा उस जाति के दिन पूरे हो चले, त्वरित गति से उसका प्रपात हो रहा है, वीर-भोग्या वसुन्धरा ऐसे मनुष्य अथवा ऐसी जाति के लिये नहीं है।

(२) अपरञ्च नौकरी के पक्षपातियों को यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यह सर्वथा असम्भव है कि किसी देश के समस्त शिक्षित मनुष्यों को नौकरी मिल जाय। हां, यह तभी सम्भव हो सक्ता है कि जब उस देश के इने गिने लोगों को ही शिक्षा दी जाय और शेष मूर्खता की लोरियों में झूमते रहें। यदि कभी ऐसा हो भी जाय तो ये इने गिने भी कालान्तर में छिन्न हुए शरद् मेघों के समान बिलीन हो जायेंगे॥

६

प्रत्येक शैली उत्कर्ष को प्राप्त करने के पूर्व अनेक बार अनेक जनों द्वारा परीक्षा की जाती है, अनेक उसमें घटती वढ़ती होती रहती हैं। क्याही अच्छा होता यदि इस शिक्षा-शैली के प्रति अपने लोग भी ऐसा ही करते। विना कष्ट उठाये, बिना तन्मय हुए कोई अच्छा काम हो नहीं सकता; राज मार्ग से

चलने वाले केवल दिन बिताने, सूर्य्य के गतागत को देखने के लिये जन्म लेते हैं, नकि बड़े कामों को करने के लिये। इस समय भारत को शिक्षित समाज का अधिकांश सर्वथा इस योग्य है कि वह इस शिक्षा-शैली की परीक्षा कर सकै। उसके ऐसा करने में दो लाभ हैं :—

एक—यह कि उनकी देखा-देखी इतर समाज भी इस शिक्षा शैली को काम में लाने लगेगी, क्योंकि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवे-तरोजनः" ।

दूसरा—यह कि उन गरीबों के बालकों को, जिन्हें इन दिनों सर्कारी स्कूलों में स्थान नहीं मिल सक्ता है, अनायास स्थान मिल जाएगा।

नौकरी के लिये उम्मीदवारी सुनी जाती थी, समय ने पढ़ाई के लिये भी उम्मीदवारी दिखाई। स्मरण रहै कि अपना सवत्व दर्शानेका भारत-सन्तान को इससे अच्छा अवसर फिर नहीं मिलेगा।

"फेरि न जननी जनमिहै, फेरि न औसर आय"।

अल्मोड़ा-हिमालय
माघ शुक्ल श्री पंचमी १९७३ } बद्रीसाह ठुलघरिया

विषय सूची ।

पूर्वार्द्ध

१—हिन्दू विश्व-विद्यालय ... ... १— ४
२—हिन्दू विश्व-विद्यालय के हेतु ... ... ४— ७
३—वर्तमान शिक्षा-शैली ... ... ७— ९
४—वर्तमान शिक्षा-शैली के परिणाम ... ... ९—२६
१—बाह्याभ्यन्तरिक मानुषी शक्तियों का ह्रास ... १०—१५
२—वाग्नाड़ियों के प्रकृति प्रतिकूल होने से प्रतिभा का नाश ... ... १५—१७
३—हृदयारविन्द का संकोच ... ... १७—१९
४—स्वजातीय भाव का लोप ... ... १९—२१
५—नौकरी के अतिरिक्त और किसी काम का न रहना १९—२१
६—शिक्षा का ठीक उद्देश्य न होने से विद्या विप्लव आदि अनेक महा अनर्थों का होना ... ... २२—२६
५—क्षणिक जागृति ... ... २६—२७
६—दोनों ओर अनर्थ ... ... २७—२९
७—हमारा कर्तव्य ... ... २९—३०
८—उपक्षिप्त शैली ... ... ३०—७२
१—आहार ... ... ३१—३५
२—अनामय ... ... ३५—४०
३—प्रेमाचरण ... ... ४०—४२
४—क्रीड़ा ... ... ४२—४५
५—बुद्ध्यु-बोधन ... ... ४५—५१
६—शीलोत्पादन ... ... ५१—६२
७—आदर्श जनन ... ... ६०—६५
८—औदार्य्य शिक्षा ... ... ६५—६६
९—गार्हस्थ शिक्षा ... ... ६६—७०

उत्तरार्ध ।

नियम	... ७४— ८१
प्रारम्भिक वर्ण माला	... ८१— ८६
लिखना	... ८६— ८९
अंक गणित	... ८९—१००
बीज गणित	...१०१—१०८
रेखा गणित	...१०९—११४
चित्र-विद्या	...११४—११५
भूगोल	...११५—११८
प्राकृतिक विज्ञान	...११८—११९
इतिहास	...११९—१२८
संस्कृत भाषा	...१२८—१३०
लोक शिक्षा	...१३१—१३२

अथ

बाल-शिक्षा-शैली

(१)

हिन्दू-विश्वविद्यालय का संचालन

गत बीस वर्ष हमारे भारत में धर्म सम्बन्धी, देश सम्बन्धी, जाति सम्बन्धी, समाज सम्बन्धी, साहित्य सम्बन्धी, शिक्षा सम्बन्धी, व्यापार सम्बन्धी, कला-कौशल सम्बन्धी, राजनीति सम्बन्धी, शासन सम्बन्धी और अनेक अनेक विषय सम्बन्धी असंख्य बबूले उठे। प्रचुर आन्दोलन मचे, विपुल घटनायें हुईं, अनन्त प्रस्ताव पास हुये, कई सञ्चालन उठे, किन्तु प्रतिकूल वायु के चलते ही बबूले एक एक करके विलीन हुये, आन्दोलन शान्त हुये, घटनायें स्मृति मात्र में रहीं, प्रस्ताव ज्यों के त्यों रहे, सञ्चालन लक्ष्य से भ्रष्ट हुये, चाहे जो कुछ हो किन्तु एक सञ्चालन बड़े महत्व का हुआ, जो सब से विशिष्ट, सब से विचारणीय, सब से आशाजनक सब से आशाभंजक, सब से उत्तम और सब से निकृष्ट रहा।

वह ऐसा सञ्चालन था क्या ? वह था हिन्दूविश्व-विद्यालय।

यह संचालन सवसे विशिष्ट क्यों ?—इसलिये कि अंग्रेज़ी राज्यकाल से भारत में ऐसा सञ्चालन कोई नहीं हुआ, जिसमें हिमालय से कुमारिका तक, अटक से कटक तक, राजभवनों से झोपड़ियों तक, शिक्षितों से निरक्षरों तक, हाकिम हुक्कामों से कुली मज़दूरों तक, सेठ साहूकारों से ग्वाले किसानों तक आवाल वृद्ध एक वंशी बजती थी।

सब से विचारणीय क्यों ?—इसलिये कि यह सञ्चालन हमारे भारत का पाशा था, इस पर हमारी जाति का भविष्य निर्भर था, इसको हमारे सत्व की तूरी फूँकनी थी, हमारे चरित्र का नमूना दिखाना था, यह हमारे जाति की कसौटी थी, वहुत दिनों से चहुंक कर भागा हुआ हमारा उत्साहरूपी पक्षी इसकी डार में आ विराजा था, यहां से वह फिर वहुत दिनों से छोड़ी हुई हमारी हृदयरूपी वाटिका में विहार करना चाहता था।

सब से आशाजनक क्यों ?—इसलिये कि सन् १९०५ में निकले हुये इस विश्वविद्यालय विषयक प्रवन्धों से सब को यही भरोसा हुआ था कि अब भारत की काया पलटी, यहां से दुःख दारिद्रय का मुख काला हुआ, भोर का भटका हुआ सांझ को घर आ पहुंचा, अब हमारे वालकों की शिक्षा हमारे हाथ में आई, अब उनको स्वभावानुकूल मानसिक और शारीरिक भोजन मिला, अब चिरकाल से अन्तर्धान हुये आदर्शरूपी भगवान् मरीचिमाली का उदय हुआ। बस क्या था, जय ध्वनि से दिशायें गूंजने लगीं, स्थान स्थान में सभायें होने लगीं, घर घर यही चर्चा होने लगीं, दान पात्र भरने लगे, फांके मस्त भी पत्र पुष्प लेकर आने लगे, सञ्चालकों के ऊपर फूल वरसने

लगे, उनका हित मनाया जाने लगा, लोग उनके भरोसे निश्चिन्त होकर सो गये, अच्छे अच्छे स्वप्न देखने लगे।

सब से आशाभंजक क्यों?—इसलिये कि उक्त प्रबन्ध की बातें राजा भोज का स्वप्न हो गई लोग सोकर उठे तो क्या देखते हैं कि जो विश्वविद्यालय कैलाशयात्रा को चला था वह पहुंच गया दक्षिण सागर में, जो विश्वविद्यालय माई हिंगुलालया के शरण में प्रवेश करना चाहता था वह चल पड़ा कामरूप कामाक्ष को, जिस विश्वविद्यालय की छाया समस्त भारत में होने वाली थी आज वह वारणा और असी के आस पास में ही रह गई, भोले भाले ग्राम्यजन पूछते ही रह गये कि जिसके लिये वैसा नगरकीर्तन हुआ था, वैसी विराट सभा हुई थी, जिसकी हमने भी पत्र पुष्प से सेवा किई थी; अब उस का क्या हो रहा है? हमारे बालकों को शिक्षा कबसे मिलेगी।

सब से उत्तम क्यों?—इसलिये कि इसने यह दर्शा दिया है कि हमारी जाति अभी मरी नहीं, इस समय उसको केवल मूर्छा मात्र है। उसमें अब भी प्राण है, अच्छा वैद्य मिलने पर, उसके अनुसार चिकित्सा होने पर वह जीजायेगी और जी कर चमत्कार कर दिखायेगी; इसने यह भ्रम दूर कर दिया है कि हमारे राजा महाराजाओं ने हम से अपना सम्बन्ध तोड़ दिया है, जातीय गौरव को वे भूल गये हैं, जन्म भूमि की उनको चिन्ता नहीं। वरन इसने यह दर्शा दिया है कि हमारे दुःखी होने पर उनकी आंखें भर आती हैं, अष्टवसुओं का अंश अब भी उनमें प्रसुप्तावस्था में वर्तमान है। अब भी वैकुण्ठ पति का गुण उनमें विराजमान है, स्वजाति और स्वदेश के लिये सब कुछ करने को अब भी वे सन्नद्ध हैं। कहिये इससे उत्तम और हो क्या सकता है?

सब से निकृष्ट क्यों ?—इसलिये कि इस सञ्चालन ने सारे संसार में हमारी हंसी करा दी, हमारी पोल खोल दी। इसने यह दिखाया है कि हम लोग कैसे भोले भाले हैं, हम लोग पिट्ठो को भी दूध समझ लेते हैं, हम लोग न अपनी आंखों से देखते हैं, न अपनी बुद्धि से काम करते हैं, विवेक और निश्चयात्मक बुद्धि हम से जाती रही, छोटे छोटे झोकों में भी हम गिर पड़ते हैं, पवन जिधर चाहे उधर हमको फेंक सकता है, भगवती भागीरथी और कर्मनाशा की हमको पहचान नहीं, न अंगूर और करौंदे की जांच, पत्तलों में परोसा हुआ दिव्य भोजन हमको पसन्द नहीं, हम चाहते हैं सोने की थाली में रखी हुई बहोरी, शोभा का वर्णन सुन कर हम लोग चल बैठते हैं कैलास यात्रा को किन्तु मार्ग की विकटता और जग्पा लोगों का अत्याचार सुन कर आधे मार्ग से ही लौट पड़ते हैं।

---

(२)

हिन्दू-विश्वविद्यालय का हेतु

बस जो होना था हो लिया, बीती तो बिसर गई अब सुध आगे की होनी चाहिये, किन्तु यह काम तो है जाति के नेताओं का, भारत के बड़े बड़े लोगों का—हां उक्त सञ्चालन से इतना अवश्यमेव सिद्ध हुआ कि हमारी जाति को विद्या तृष्णा अब भी बनी हुई है, विद्या के लिये वह सब कुछ करने को कटिबद्ध हैं, विद्या को ही वह अपना सर्वस्व समझी हुई है। अतएव उक्त सञ्चालन का जन्म हुआ।

किन्तु जब हमारी सर्कार अंगरेज़ हमारे लिये इतने विश्व-विद्यालय, इतने स्कूल, इतने कौलेज, इतने विविध शिक्षा

सम्बन्धी संस्थाऐं खोल चुकी और खोल रही है और हमारी शिक्षा का भार अपने ऊपर ले चुकी है, और फिर जो कुछ कमी रह जाय उसको मिशन सोसाइटियां पूरा करने को तय्यार हैं, तो हमको इतनी चिन्ता क्यों? इतना कोलाहल इतना आकाश पाताल करने की आवश्यकता क्या?

इसका ठीक ठीक उत्तर तभी हो सकता है जब अंगरेज़ी शिक्षा सम्बन्धी भारत का साङ्गोपाङ्ग इतिहास लिखा जाय, समालोचना की जाय। किन्तु इसके लिये न समय है, न सामग्री है; इतना होने पर भी लाभ कुछ नहीं। हां इसका एक सर्वसम्मत उत्तर यह है कि वर्तमान शिक्षा-शैली का एक-मात्र उद्देश्य है नौकरी, किन्तु नौकरी न मिलने से चित्त में महाअशान्ति, महाअसन्तोष, महानिरुत्साह, महाक्लैब्य, महा-लज्जा आ विराजते हैं। वर्तमान शिक्षा-शैली शान्ति, उत्साह और पौरुष को दूर से ही फटकार देती है, स्कूल में पदार्पण करने के दिन से बालकों को चिन्ता लग जाती है और फिर वह जीवन-पर्य्यन्त बढ़ती चली जाती है कभी एक रूप में और कभी दूसरे में, सुख छाया के समान अत्यन्त समीपवर्ती होने पर भी हाथ नहीं आता, कारण इसका यह है कि सुख के आधार शान्ति, उत्साह और पौरुष हैं, और इनका आधार है सत्व, जितना मनुष्य में सत्व विकाश होता है उतनी उसमें शान्ति होती है, उतना उसमें उत्साह और पौरुष होता है, उतना वह सुखी और निश्चिन्त होता है; और जितना उसमें सत्व-सङ्कोच होता है उतनी उसमें अशान्ति होती है, उतना उसमें निरुत्साह और क्लैब्य होता है; और उतना वह दुःखी और चिन्ताकुल होता है। जब मनुष्य में सत्व विकाश ही नहीं तो फिर सुख की सम्भावना कहां। सत्व विकाश होता है

वाह्याभ्यन्तरिक मानवी शक्तियों को जागृत करने से, जागृत हुई उन शक्तियों को तीव्र करने से, इसके लिये कुछ शारीरिक और मानसिक व्यायाम करना पड़ता है, कुछ सरल नियमों का पालन करना पड़ता है। किन्तु ये बातें वर्तमान शिक्षा-शैली के अनुसार हो नहीं सकतीं, हो क्या नहीं सकतीं वरन उनका होना असम्भव है, क्योंकि वर्तमान-शिक्षा-शैली का उद्देश्य सत्व विकाश तो है नहीं कि उसमें ऐसी बातें हो सकें। उसका उद्देश्य है सर्कार की आवश्यकतानुसार शिक्षालय-रूपी शिल्पकलाओं में विविध प्रकार के नौकर ढालने का. सरकारी काम को सुगमता से चलाने के लिये लिखे पढ़े, चतुर और सस्ते नौकरों की पैंठ लगाना, प्रतिवर्ष उनकी फसल तय्यार करना। यह सब जानते हैं कि जब सर्कार को जिस प्रकार के नौकरों की आवश्यकता होती है तब उस प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध हो जाता है, जब जितने नौकरों की आवश्यकता होती है तब उतने उत्तीर्ण किये जाते हैं। जब नौकरों की आवश्यकता बढ़ जाती है तो पढ़ाई में सब प्रकार के सुबीता किया जाता है और जब वह आवश्यकता घट जाती है पढ़ाई भी कठिन की जाती है। इसीलिये तो सर्कार की शिक्षा-सम्बन्धी-नीति पिण्डरगल के समान सरासर रङ्ग बदलती जाती है, जैसा अवसर आन पड़ता है, जैसी आवश्यकता होती है वैसी रीति निकल जाती है, वैसे नियम बन जाते हैं, वैसी शिक्षा का प्रबन्ध हो जाता है, वैसे लोगों का उत्साह बढ़ाया जाता है, वैसे लोग विद्वान् समझे जाते हैं। जिससे महाकौतुक, बड़ी हँसी की बात यह हो गई है कि पुराने पढ़े लोग नये पढ़े लोगों को धूर्त, और नये पढ़े लोग पुराने पढ़े लोगों को मूर्ख समझने लगे हैं। भारत की उपजाऊ भूमि में और फसलों की तरह नौकरों

की फसल भी प्रचुर होती है, ऐसी प्रचुर कि इसका ठिकाने लगना कठिन हो जाता है, नौकरी के लिये सर्वत्र 'मोहि गिनोरी मोहि गिनो' होने लगती है, जिससे भारत में महाअशान्ति फैल गई है । कदाचित इसी दोष को दूर करने के लिये, अथवा सत्व विकाश को उद्देश्य बनाने के लिये हमारे लोगों ने शिक्षा को अपने हाथ में लेना चाहा, इतना आन्दोलन मचाया इतना आकाश पाताल किया ।

(२)

वर्तमान-शिक्षा-शैली

अब किञ्चित् देखना यह है कि वह वर्तमान शिक्षा-शैली क्या है ; जिसको लोग बदलना चाहते हैं ?

इन दिनों हमारे देश में सर्कार अंगरेज़ ने शिक्षा के लिये दो प्रकार का प्रबन्ध किया है एक वर्नाक्युलर और दूसरा अंगरेज़ी, दोनों में विद्यार्थी को पाँच या छह विषय पढ़ाये जाते हैं जिन में से कई विषयों से विद्यार्थी का स्कूल या कौलेज छोड़ने पर फिर कोई काम नहीं पड़ता, दोनों में अनेक परीक्षायें देनी पड़ती हैं, उत्तीर्ण भी सब विषयों में एक साथ होना पड़ता है, एक विषय में भी फेल होने से विद्यार्थी सभी विषयों में फेल समझा जाता है चाहे वह उन में अच्छी तरह पास हो चुका हो, फेल हुये विद्यार्थी को दूसरे वर्ष फिर सब विषयों में परीक्षा देनी पड़ती है । यदि विद्यार्थी दूसरे वर्ष उन पास किये हुये विषयों में से किसी में भी फेल हो बैठा तो समझिये कि फिर वैताल जाकर उसी वृक्ष में लटका । बिना "रिकोगना-इज्ड" संस्थाओं में पढ़े परीक्षा दी नहीं जा सकती है । वर्ना-

क्यूलर स्कूलों में ये विषय सिखाये जाते हैं:—कुछ देशी भाषा, कुछ गणित, कुछ भूगोल, अंशमात्र पदार्थ विज्ञान, विदेशी आक्रमण और विदेशी राज्य सम्बन्धी भारत का इतिहास, लेशमात्र चित्र विद्या। अंग्रेजी स्कूल और कालेजों में जो विषय पढ़ाये जाते हैं, वे यह हैं:—अंग्रेजी भाषा, अङ्गरेजी साहित्य, संस्कृत आदि प्राचीन साहित्य की दो चार साधारण पुस्तकें, इङ्गलिस्तान आदि यूरपीय देशों का इतिहास, भारत का पूर्वोक्त प्रकार का इतिहास यूरप के महापुरुषों की जीवनियां, अधूरे अधूरे अव्यवहारिक विज्ञान उक्त विषयों में से कई विषय वैकल्पिक होते हैं, प्रायः समस्त विषय अंगरेजी भाषा में अंगरेजी ढंग से पढ़ाये जाते हैं, अंगरेजी भाषा और अंगरेजी साहित्य सब विषयों में श्रेष्ठ समझे जाते हैं, उनमें आधिपत्य हो जाने से विद्या की पराकाष्ठा, प्रतिभा का महाचमत्कार, समस्त शास्त्रों में सूची प्रवेश समझा जाता है।

इसी कारण इन दिनों भारत में अंगरेजी वाग्विभव के अनुसार ही मनुष्य की बुद्धि की जांच होती है, जिसने चटकीली अंगरेजी बोलना और लिखना सीख लिया उसने मानो सब कुछ कर लिया, वह कृतकृत्य हो चुका, मानो उसने ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त कर लिई, इसी कारण अंगरेजी भाषा में आधिपत्य प्राप्त करने के लिये हमको विशेष यत्न करना पड़ता है, विशेष यत्न क्या अंगरेजी भाषा को अपनी समस्त शक्तियों का केन्द्र बना देना पड़ता है, यहां तक कि हमारे शिक्षित समाज में वरन हमारे जातीय शिक्षा के पक्ष पातियों में भी यह प्रथा चली आती है कि उनकी आपस की चिट्ठी पत्री, लिखा पढ़ी, निज का हिसाब किताब सब कुछ अंगरेजी भाषा में ही चलते हैं, अनेक महाशयों ने तो इस प्रथा को अपनी गृह लक्ष्मियों में

भी चला दिया है, कतिपय महापुरुष अपने नन्हें नन्हें बच्चों को मेम लोगों के हवाले कर देते हैं और कोई कोई बड़े लोग अपने बालकों को यूरपियन स्कूलों में भेज देते हैं जिससे उनके बालक तर्राटे की अंगरेजी बोल सकें, अंगरेजों के समान उच्चारण कर सकें, अंगरेजी ढंग से रहने लगें, अंगरेजों जैसे भासमान होने लगें,

---

(४)

वर्तमान शिक्षा-शैली के परिणाम

यदि हमारी समाज की प्रवृत्ति ऐसी ही रही, उसकी आंखें न खुलीं, विवेक ने हस्ताक्षेप न किया तो वर्तमान शिक्षाशैली का दूरस्थ परिणाम कुछ ऐसा अनुमान होता है कि हमारी समाज ठीक उस ढंग की हो जायेगी जैसी इन दिनों हिन्दुस्तानी इसाइयों की है, जो अपना सब कुछ खोकर जी यह लगाये हुवे हैं कि हम अंगरेजों जैसे भासमान कैसे होवें, जिनकी न कोई अपनी भाषा है, न अपना साहित्य है, न इतिहास है, न जातीय गौरव है, न वीर पूर्वज हैं, न दुर्दिनों के लिये कुछ सहारा है, है केवल मिशन सोसाइटी की छाया, जब तक मिशन सोसाइटी के प्रतिनिधियों को, उसके पादरियों को रिझा सकें जब तक उनका कृपा कटाक्ष बना है तभी तक मक्खन रोटी है, तभी तक सुथरी पोशाक है, तभी तक हवा खोरी है, और जहां वे रूठे झट दुर्दशा आन खड़ी हुई ॥

वर्तमान शिक्षाशैली का यह तो हुआ दूरस्थ परिणाम, और उसके विद्यमान परिणाम जो प्रत्यक्ष हैं वे ये हैं:—

१—वाह्याभ्यन्तरिक मानुषी शक्तियों का ह्रास ।

२—वाग्नाड़ियों के प्रकृति प्रतिकूल होने से प्रतिभा का नाश ।

३—हृदयारविन्द का सङ्कोच ।

४—स्वजातीय भाव का लोप ।

५—नौकरी के अतिरिक्त और किसी काम का न रहना ।

६—शिक्षा का ठीक उद्देश्य न होने से विद्या विलव आदि अनेक महा अनर्थों का होना ।

१—वाह्याभ्यन्तरिक मानुषी शक्तियों का ह्रास— आप्त-वाक्य इस बात का प्रमाण है कि समस्त विश्व का आधार प्राण नामक शक्ति है, यही शक्ति जगत् के सृष्टि स्थिति और संहार की हेतु है, प्रत्येक कल्प के आदि में जब यह शक्ति जागृत होती है तो तत्वों का आविर्भाव होने लगता है, उनकी तन्मात्रों में स्पन्दन होने लगता है, आकर्षण विकर्षण, आक्षेप विक्षेप नामक अनन्त अनन्त शक्तियाँ प्रकट होने लगती हैं, तत्वों में पंचीकरण होने लगता है, भिन्न भिन्न प्रकार के स्थावर, जङ्गमों की सृष्टि होने लगती है, अर्थात् निशेःष चराचर में यही प्राण भिन्न भिन्न रूप से वर्तमान है; समस्त मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ इसी प्राण की रूपान्तर मात्र हैं; जब तक जिस पदार्थ में, जिस प्राणी में, जिस इन्द्रिय में, जिस नाड़ी में, जिस तन्तु में, जिस अङ्ग में, जिस स्थान में प्राण वर्तमान रहता है तब तक उसमें चेष्टा और व्यापार भी वर्त-मान रहता है, तब तक उसका कार्य्य चला जाता है; प्राण में गड़बड़ पड़ते ही स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है, रोग होने लगते हैं, इन्द्रियाँ अपने अपने कार्य्य से मुख मोड़ने लगती हैं; प्राण के

छोड़ते ही सब इन्द्रियाँ, समस्त नाड़ियाँ, निःशेष अङ्ग निश्चेष्ट और निर्व्यापार हो जाते हैं; उनके कार्य्य जहाँ के तहाँ पड़े रह जाते हैं; इस शरीररूपी दीपक से जितना प्राणरूपी तेल का क्षय होता जाता है उतना उसका प्रकाश भी कम होता चला जाता है, वर्तमान शिक्षा शैली हमारी इस प्राणशक्ति को चाट कर हमको निस्सत्व बना देती है। इसके मुख्य कारण ये हैं:—

क–बचपन से विदेशी भाषा की पढ़ाई।

ख–एक साथ विविध विषयों की विदेशी भाषा द्वारा पढ़ाई।

ग–बेढंगी परीक्षा पद्धति।

घ–प्राण संचयोपाय का अभाव।

(क) बचपन से विदेशी भाषा की पढ़ाई—बाल्यावस्था से अङ्गरेज़ी शब्दों के नियम शून्य स्प्यलिङ्ग, उनका उच्चारण, उनका प्रयत्न, उनका अर्थ, अंगरेज़ी भाषा का व्याकरण, उसका व्यवहार, उसकी वाक्य रचना इत्यादि को सीखने में हमारी अधिकांश मानसिक शक्ति क्षीण हो जाती है। बिना रटाई के ये काम हो नहीं सकते और रटाई का काम ऐसा है कि जो बिना प्राणशक्ति की आहुत दिये हो नहीं सकता। अपरंच शिक्षा का विदेशी भाषा में होने से स्वभावतः ध्यान उस भाषा की ओर चला जाता है और वह भाषा ज्ञातव्य विषय को पीछे हटा कर हमारी मानसिक शक्तियों का केन्द्र आप बन बैठती है, जहाँ हमको विचार तर्क और प्रतिभा से काम लेना चाहिये वहाँ रटाई से काम लेना पड़ता है। अतः हमको अपनी समस्त प्रकार की भिन्न भिन्न मानसिक शक्तियों को अपने २ स्रोत मार्ग से हटा कर स्मरणशक्ति के स्रोत मार्ग को ले जाना पड़ता है;

जिससे सब स्रोत सूख जाते हैं, विवेक तर्क और प्रतिभा का लोप हो जाता है, बुद्धिस्थान पूर्णतया मरुभूमि हो जाती है, शास्त्रों के तत्व में पहुंचने के पहिले ही पर भाषा हमारी बुद्धि को चाट लेती है, भाषारूपी छिलके की लौट फेर में हम तत्व-रूपी गरी को भूल जाते हैं, अंगरेज़ी भाषा का ज्ञान प्राप्त करके हम अपने को कृतकृत्य समझ लेते हैं, एवं भिन्न भिन्न प्रकार की मानसिक शक्तियाँ अव्यक्त रूप से नष्ट होती चली जाती हैं।

(ख) एक साथ विविध विषयों की विदेशी भाषा द्वारा पढ़ाई—हमको एक साथ इतने विषय और ऐसी भाषा में पढ़ाये जाते हैं कि जिससे हमको अत्युग्र परिश्रम करना पड़ता है, निद्राभंग करनी पड़ती है, भोजन का नियम उल्लंघन करना पड़ता है, प्राण संचयोपाय के लिये समय नहीं मिलता, आहार विहार के नियमों की अत्यन्त उपेक्षा कर देनी पड़ती है; जिससे मन्दाग्नि आदि अनेक रोग आ घेरते हैं, किन्तु परीक्षा के लिये इन सब बातों की अवहेला, और स्वास्थ की उपेक्षा करनी पड़ती है, अपरंच हम में से अधिकांश लोग ऐसे हैं जिनको इस मानसिक परिश्रम के अनुकूल भोजन नहीं मिलता, जितना प्राणसंचय उनके रूखे सूखे अन्न से होता है उससे अधिकतर प्राण रटाई में व्यय हो जाता है; कुछ प्राण व्यय यों हुआ और कुछ हुआ मन्दाग्नि आदि रोगों से।

(ग) बेढंगी परीक्षा पद्धति—वर्तमान शिक्षा शैली के अनुसार विद्यार्थी को अनेक परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना पड़ता है, जिसमें उसको भयङ्कर प्रयास करना पड़ता है, अपनी हड्डियां पेर देनी पड़ती हैं, कई रात जागना पड़ता है, जिससे विद्यार्थी बिलकुल निस्सत्व हो जाता है, मस्तिष्क उसका खाली हो जाता है, दृष्टि कम हो जाती है, घड़ी घड़ी चक्कर आने लगता

है। ऐसा उग्र परिश्रम न किया जाय तो किया क्या जाय, क्योंकि परीक्षा शैली ऐसी है कि बिना ऐसा किये काम नहीं चलता। समस्त विषयों में परीक्षा एक साथ देनी पड़ती है और एक साथ उनमें उत्तीर्ण भी होना चाहिये, एक विषय में भी फेल होने से विद्यार्थी समस्त विषयों में फेल समझा जाता है चाहे वह उनमें बहुत अच्छी भांति उत्तीर्ण हो चुका हो, चाहे उनमें उसको आधिपत्य प्राप्त हो चुका हो। यदि विद्यार्थी उत्तीर्ण हो गया तो कुछ सन्तोष हुआ. नहीं तो सब परिश्रम वृथा गया, अधिक स्वास्थ्य बिगड़ा, अधिक प्राण क्षय हुआ।

(ब) प्राण संचयोपाय का अभाव—पढ़ाई से थके हुवे विद्यार्थी के मस्तिष्क को विश्राम देने के लिये कोई विनोद अवश्य-मेव होना चाहिये, किन्तु वर्तमान शिक्षा-शैली में ऐसे विनोद का सर्वथा अभाव है। मानसिक परिश्रम से शरीर क्षीण हो जाता है अतः कोई ऐसा उपाय होना चाहिये जिससे शरीर में पुनः प्राण संचय हो जाय, किन्तु वर्तमान शिक्षा-शैली में इसका भी प्रायः अभाव ही है; क्योंकि स्कूल और कालेजों में हौकी, फुटबौल आदि कुछ खेलों के लिये प्रबन्ध किया होता है, जिससे लाभ तो कुछ होता नहीं वरन उलटी हानि होती हुई देखी गई है क्योंकि ये खेल ऐसे हैं और इस ढंग से ,खेले जाते हैं कि प्रत्येक विद्यार्थी को ये प्रतिदिन खेलने को मिल नहीं सकते हैं; मान लिया जाय ऐसा हो भी सकता है पर तौभी इन से लाभ कुछ नहीं, क्योंकि जिन विद्यार्थियों की रुचि पढ़ने की ओर होती है उनको ऐसे खेलों के लिये बहुधा समय नहीं मिलता है, कई विद्यार्थियों की शरीरावस्था इन खेलों के अनुकूल नहीं होती है, अनेकों की इनकी ओर रुचि नहीं होती है और अधिक अधिकांश बालकों को इनके अनुकूल

भोजन नहीं मिलता । विचारिये भारत में ऐसे कितने विद्यार्थी हैं जिनको हौकी फुटबौल के अनुकूल भोजन मिलता हो ? । बहुधा यह प्रत्यक्ष देखने में आरहा है कि हौकी फुटबौलके रसिक विद्यार्थियों में से अनेक विद्यार्थी भोजन के अनअनुकूल प्रयास करने से स्वास्थ्य को सुधारने के बदले उससे हाथ धो बैठते हैं । अपरञ्च इन खेलों में सब से अधिक बुराई यह है कि :—

(१) ये खेल बिना बाजी लगाये, बिना प्रतिद्वन्दी भाव के बिना अखाड़ा बन्दी के, बिना मानसिक संक्षोभ के खेले नहीं जा सकते हैं ।

(२) बाज़ी के हारजीत का विचार खिलाड़ी के चित्त को सदा उद्विग्न रखता है, अतः उसको अपनी शक्ति से अधिक प्रयास करना पड़ता है, ऐसा हड्डी तोड़ परिश्रम करना पड़ता है, कि स्वास्थ्यभंग हो जाता है ।

(३) जब तक बाज़ी पूरी न होजाय अथवा नियत समय बीत न जाय तब तक खिलाड़ीको कमर में हाथ धर कर, हाँफते हाँफते, लड़खड़ाते हुवे, काग़ज़ी नींबू चूसते २, पसीने से तर होकर खेल खेलना पड़ता है । अनेक बार यह देखा गया कि विद्यार्थी खेलते खेलते मूर्छित हो जाते हैं, मस्तिष्क में रुधिर चढ़ जाता है, लेने के बदले उलटे देने पड़ते हैं ।

पराई भाषा द्वारा पढ़ाई का, ऐसे भयङ्कर शारीरिक परिश्रम और लगातार मानसिक उद्वेग का, ऐसे अल्प और रूखे भोजन का विचार करके यही अनुमान होता है कि हौकी, फुटबोल आदि खेल विद्यार्थी के लिये महा अनर्थकारी हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि वर्तमान शिक्षा शैली में विद्यार्थी के

लिये कोई प्राण सञ्चयोपाय नहीं है और जो है भी वह उभयतः बालकों के प्रतिकूल है।

इन्हीं पूर्वोक्त कारणों से कालेज से निकले हुये हमारे बालक वाह्याभ्यन्तरिक मानुषी शक्तियों को खो बैठते हैं, निरे लिफाफे हो जाते हैं, मस्तिष्क उनका घूमने लगता है, स्मृति क्षीण हो जाती है, दृष्टि कम हो जाती है, जठराग्नि मन्द पड़ जाती है, थोड़े शीतोष्ण से घबरा उठते हैं, किंचित् भूख प्यास को सहन नहीं कर सकते, अपने शरीर को हा बोझ जानने लगते हैं, एक दो रोगों को सहचर बना लेते हैं, प्रतिभा और विवेचना का उनको दर्शन भी नहीं होता, तर्क से वे काम लेना नहीं जानते, दूर दर्शिता उनमें रहतो ही नहीं, उत्साह और धैर्य्य उनको छोड़ चले जाते हैं बनावटी लच्छेदार बातों के फेर में आ जाते हैं।

वाग्नाड़ियों के प्रकृति प्रतिकूल होने से प्रतिभा का नाश— बहुधा यह देखा गया है कि अरब लोग कण्ठ से, लामा लोग नासिका और ओष्ठ से बोलते हैं, अमेरिका और इंगलैण्ड की भाषा एक होने पर भी उनके उच्चारण में बहुत भेद है, पंजाब, हिन्दुस्तान और बंगाल के अकारोच्चारण में मात्रा भेद रहता है। अब विचारना यह है कि ऐसा होता क्यों है? इसका यह अनुमान होता है कि प्रत्येक देश के जल वायु, प्रत्येक देश के आहार विहार के अनुसार वहां के लोगों की शारीरिक रचना होती है, इसी के अनुसार उनकी वाग्नाड़ियां भी बनी हुई होती हैं, और उस बनावट के अनुसार उनसे वैसी ध्वनि निकलती है; अतएव भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न प्रकार का उच्चारण और प्रयत्न पाया जाता है।

अब विचारास्पद यह है कि यदि किसी देश के लोग वहां रह कर अन्य देशवासियों के उच्चारण और प्रयत्न का अनुकरण करने का अभ्यास करें तो क्या उनको अपनी वाग्नाड़ियों को अपने देश के जल वायु अपने आहार विहार के प्रतिकूल बनाना न होगा ? ऐसा करने से क्या उनको प्रकृति के प्रतिकूल चलना न होगा ? अवश्यमेव ऐसा करना पड़ेगा, ऐसा न होना असम्भव है। प्रकृति तो चाहे कि उनकी वाग्नाड़ियां एक प्रकार की होवें और वे निरन्तर अभ्यास द्वारा उनको बना देवें दूसरी प्रकार की, तो समझ लीजिये कि इस खींचातानी का परिणाम क्या होगा, प्रकृति के प्रतिकूल चलने से कभी किसी का श्रेय नहीं हुआ, न कभी उसने किसी को इसका प्रायश्चित्त करवाये बिना छोड़ा। एवं वाग्नाड़ियों को भी प्रकृति के प्रतिकूल बनाने का दण्ड अवश्यमेव भोगना पड़ेगा। यह तो है अनुमान, इस विषय में आप्तवाक्य जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि ज्ञान और बुद्धि का आधार है मेरुदण्ड के अन्तिम भाग में रहने वाला ज्ञान चक्र जिसको सहस्रार चक्र कहते हैं, इस सहस्रार चक्र से वाग्नाड़ियों का अत्यन्त सूक्ष्म शिराओं द्वारा घनिष्ट सम्बन्ध होता है; अतः वाग्नाड़ियों में गड़बड़ पड़ने से सहस्रार चक्र में विकृति आ जाती है, सहस्रार चक्र में विकृति आने से बुद्धि में भी विकार उत्पन्न हो जाता है, बुद्धि विकार का प्रथम अव्यक्त परिणाम होता है प्रतिभा और विवेक का लोप। और यह पहिले कहा जा चुका है कि विदेशी उच्चारण और प्रयत्न का अभ्यास करने से वाग्नाड़ियों की प्रकृति और अभ्यास के बीच सदा खींचातानी रहा करती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि वाग्नाड़ियों के प्रकृति प्रतिकूल बनने से प्रतिभा और विवेक जाते रहते हैं।

और प्रत्यक्ष बात जो देखने में आ रही है और इतिहास जिसका समर्थन कर रहा है वह यह है कि जिस मनुष्य ने, जिस जाति ने अपनी वाग्नाड़ियों को प्रकृति के प्रतिकूल बनाया वह मनुष्य, वह जाति प्रतिभा और विवेक से हाथ धोकर बैठे, चाहे वह मनुष्य, वह जाति थोड़े दिनों के लिये चलते पुर्जे समझे जांय, चाहे कुछ समय के लिये उनका डंका बजा करै, चाहे समय के फेर से उनकी वाह वाह हुआ करै, चाहे अनुकरण शक्ति उनमें आ जाय किन्तु उनकी बुद्धि बिना नाश हुवे रह नहीं सकती है।

अब देखना यह है कि वर्तमान शिक्षाशैली के अनुसार हमको अपनी वाग्नाड़ियों को प्रकृति के प्रतिकूल बनाना पड़ता है या नहीं। कौन इस बात को नहीं जानता है कि इन दिनों अंगरेजी उच्चारण और प्रयत्न को अत्यन्त उत्कर्ष दिया जाता है, जिसके ये ठीक होते हैं उसके ऊपर तो प्रशंसा की बौछार होती है और जिसके ये ठीक नहीं होते हैं उसका ठट्ठा उड़ाया जाता है, वह किसी काम का नहीं समझा जाता है, इसलिये हमको बचपन से अंगरेज़ी उच्चारण और प्रयत्न सीखने में बड़ा प्रयास करना पड़ता है, जिसका अवश्यं-भाविफल यह होता है कि प्रकृति और अभ्यास के बीच सदा हमारी वाग्-नाड़ियों की खींचातानी रहा करती है। परिणाम ऊपर कहा जा चुका है।

३—हृदयारविन्द का संकोच—यह बात सर्व अनुभव सिद्ध है कि मनुष्य का हृदय खुलता है चिन्ता और भय के न होने और ऊंचा आदर्श रखने से, जितना मनुष्य निश्चिन्त और निर्भय रहता है और जितना उसका आदर्श ऊंचा रहता है उतना उसका हृदयारविन्द प्रसन्न रहता है, और जितना

मनुष्य चिन्ताकुल और भयातुर रहता है और जितना उसका आदर्श नीच रहता है उतना उसका हृदय संकुचित और अप्रसन्न रहता है, और जो हृदयारविन्द बाल्यावस्था में ही खुलने लग जाता है वही यौवन में पूरा विकाश प्राप्त कर सकता है, किन्तु जिस हृदय-कमल में छोटी अवस्था में सङ्कोच रह जाता है वह यौवन में कोटि उपाय करने पर भी पूरा खिलने नहीं पाता ।

वर्तमान-शिक्षा-शैली ऐसी है कि हमारा हृदयारविन्द बाल्यवस्था में ही संकुचित हो जाता है क्योंकि गुरु जी का सदा वक्र रहना, उनका रूखा व्यवहार, हेडमास्टर साहब का भय, बेत फटकारते हुए उनका चक्कर लगाना, इन्स्पैक्टर साहबों के बार बार के इन्स्पैक्शन, बार बार की परीक्षाओं की चिन्ता, अन्तिम परीक्षा का उद्वेग, फेल होने की लज्जा, पास हुए की नवीन कठिनाई, पढ़ाई के खर्चे से पिता का तङ्ग हो जाना; चित्त में इस बात का समाजाना कि पढ़ने से नौकरी मिलती है, नौकरी से गुजारा होता है, नौकरी से बढ़ कर कुछ नहीं है; सदा नौकरी की चर्चा सुनना, नौकरी का आदर्श हो जाना बालक के चित्त को चिन्ता, भय और नीच आदर्श के हेतु बड़ी उर्वरा भूमि बना देते हैं । अतः बाल्यावस्था से ही हमारा हृदयारविन्द का सङ्कोच हो जाता है ।

और यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि जितना हृदयारविन्द का विकास होगा उतना उसमें दैवी सम्पत्‌रूपी भौंरा विराजमान रहेगा और जितना हृदय-कमल का सङ्कोच होगा उतनी दैवी सम्पद् उससे दूर रहेगी और उतनी उसमें आसुरी सम्पत् रहेगी ।

४–स्वजातीय भाव का लोप—वर्तमान-शिक्षा-शैली के अनुसार हमारे कोमलचित्त बालकों को बिना उनकी समाज का, उनकी जाति का, उनके देश का, उनके साहित्य का, उनके महापुरुषों का महत्व दर्साये पर-समाज, पर-जाति, पर-देश, पर-साहित्य पर-महापुरुषों का महत्व दर्साया जाता है। शहर पनाह के बाहर खड़े हुवे विजई मुरारि राव से प्रणाम किये बिना ही आरकट के भीतर घिरे हुये क्लाइव सेउनका हाथ मिलाया जाता है; बिना अपने पुराणाचार्यों की बातें सुने, बिना अपने इतिहास को देखे हमको विदेशी हिस्टोरियनों के लेख मनन करने पड़ते हैं; बिना कुरुक्षेत्र के युद्ध को देखे हमारे युवक ट्रोय की लड़ाई में भेजे जाते हैं, बिना भगवान् वाल्मीकि का वीणा नाद सुनाये हमारे सामने होमर का हार्प बजाया जाता है, बिना कण्व मुनि के आश्रम के दर्शन किये हमको आर्डन के जङ्गल की सैर करनी पड़ती है बिना कामन्दकीय अथवा कौटिल्य के अर्थशास्त्र को देखे हम पाश्चात्य इकोनौमिक्स को मनन करने लग जाते हैं; बिना अपने देश काल निमित्त का जाने हम पाश्चात्य अर्थशास्त्र को पढ़ने लग जाते हैं; जिसका परिणाम यह होता है कि हम विदेशी रङ्ग में रङ्ग कर स्वसमाज, स्वजाति, स्वदेश, स्वसाहित्य, स्वधर्म इत्यादि से घृणा करने लग जाते हैं। ऐसी अवस्था में यदि हम लोग 'स्व' के स्थान में 'पर' का आदेश कर दें तो आश्चर्य्य ही क्या, आश्चर्य्य तो ऐसा न होने में है।

५–नौकरी के अतिरिक्त और किसी काम का नहीं रहता--कोई इस बात का निषेध नहीं कर सकता है कि भारत के जितने बालक स्कूलों और कालेजों में पढ़ते हैं उनमें से प्रायः सब ही का लक्ष्य सर्कारी नौकरी होता है, इस ही के लिये वे

स्कूल और कौलेज में भेजे जाते हैं चाहे वे कैसे ही सम्पन्न कुल के क्यों न हों ; जिन्होंने कोई परीक्षा पास किई है उनमें से प्रायः निन्यानवे सैकड़े से भी अधिक किसी न किसी प्रकार के नौकर हैं, नौकरी से ही उनकी जीविका हो रही है ; हमारी शिक्षित मण्डली को परिचार्य्यात्मक वृत्ति के अतिरिक्त और कोई उपाय जीवन यात्रा का सूझता ही नहीं ; इन दिनों भारत में सर्कारी नौकरी की ऐसी धूम मची हुई है कि इसके समान गौरवास्पद कुछ नहीं समझा जाता है ; यहां तक की चारों वर्णों ने परिचार्य्या को अपना स्वभावज कर्म बना लिया है ; इतनाही नहीं बरन् बड़े बड़े पण्डित जी नौकरी के लिये नीच से नीच कर्म करने में सङ्कोच नहीं करते हैं, बड़े बड़े ठिकाने के उत्तराधिकारी वकालत पास कर रहे हैं, बड़े बड़े जमींदार, बड़े बड़े कोठीदार, बड़े बड़े सेठ साहूकार तहसीलदारी, नायब तहसीलदारी के लिये बङ्गलों बङ्गलों में मारे मारे फिरते हैं। यह तो हुई हमारे बड़े लोगों की बातें, और हमारे ग़रीब किसान और मज़दूरों की यह दशा है कि जो कोई उनमें से कुछ लिख पढ़ लेता है, जो किसी इम्तिहान को पास कर लेता है वह फिर घर के काम का नहीं रहता है, वह "आध सेर आटे की परवरिश" के लिये नौकरी की तालाश में पटवारगरी, पतरौलगरी, जमादारी के लिये भटकने लग जाता है। इन दिनों हमारे भारत में शिक्षित मण्डली के बीच "फैशन" ही नौकरी का हो गया है, जिसको नौकरी मिल गई उसकी शिक्षा सफल हुई, उसका जन्म कृतार्थ समझा गया, इसके कारण ऐसा राग द्वेष फैला हुवा है कि एक व्यक्ति दूसरी व्यक्ति का, एक समाज दूसरी समाज का, एक वर्ण दूसरे वर्ण का वैरी बन बैठा है। इतना ही नहीं वरन् नौकरी के उमीदवारों ने सर्कार बहादुर के भी नाकों दम कर दिया है, जिससे अब

उसको शिक्षा के मार्ग में इतने कांटे बोने पड़े। लज्जा के साथ कहना पड़ता है कि हमारे बड़े बड़े घराने के लोग बड़े बड़े एम. ए., बी. ए. नौकरी के लिये अकर्मण्य कर्मों को करने में लजाते नहीं, थाड़े प्रमोशन के लिये राक्षसी और आसुरी भावों को दर्शान में सकुचाते नहीं, इन नीच भावों को दर्शाने में वरन् अपनी योग्यता, अपना गौरव, अपनी प्रभुता समझते हैं। बस, इसी से समझ लीजिये कि वर्तमान-शिक्षा-शैली का हमारे समाज पर कैसा प्रभाव पड़ रहा है—हाँ यह दूसरी बात है कि हम इसही को अच्छा समझें। लोलिम्बराज गोवर्धन पर्वत को गिरिराज समझ लेवें तो क्या किया जाय।

विचारिये जिन्हों ने वर्तमान शैली के अनुसार शिक्षा पाई है यदि वे किसी काम के होते तो आज इतनी गड़बड़ क्यों होती और क्यों आज ऐसा वर्ण विप्लव होता। जो कुछ भी हो परन्तु जीवन यात्रा हमारी शिक्षित मण्डली की इसी शिक्षा के बदौलत तो चल रही है, इसी से उसकी टोपी बची हुई है। यह सत्य है ; किन्तु इस शिक्षा का मुख्य दोष भी यही है, इसी दोष के कारण यह भारत का विनाश हेतु बन बैठी, इस ही दोष के कारण हमारा शिक्षित समाज पराधीन वृत्ति हो गया है, विचारिये जिस व्यक्ति, जिस समाज, जिस जाति, जिस देश की अजीविका दूसरे के हाथ में होगी वह क्या पुरुषार्थ कर सकेगा ; उस में राक्षसी और पैशाची सम्पत् के अतिरिक्त और क्या गुण विराजमान रह सकते हैं ? उदर पोषण को छोड़ उनके लिये और क्या काम रह सक्ता है ? देखने में यह आया कि वे थोड़े स्वार्थ के लिये अपनी जाति अपने देश का सर्व नाश करने को उतारू हो जाते हैं। ऐसी कुलंकषा समाज, ऐसी जाति का यदि शीघ्र विनिपात न हो जाय तो उसके प्राक्तन पुण्य विशेष अवशिष्ट समझने चाहियें।

६–शिक्षा का ठीक उद्देश्य न होने से अनेक अनर्थों का होना–वर्तमान प्रथा के अनुसार जब तक विद्यार्थी परीक्षोत्तीर्ण न हो जाय, जब तक उसको सार्टिफिकट न मिलजाय तब तक उसका शिक्षा पाना न पाना एक समान समझा जाता है, तब तक वह किसी काम का नहीं समझा जाता है चाहे उसमें कैसी योग्यता क्यों न हो, अतएव विद्यार्थी का उद्देश्य रहता है येनकेन परीक्षा में उत्तीर्ण होना, न कि यथार्थ शिक्षा लाभ करना, परीक्षा में उत्तीर्ण होना मुख्य पदार्थ समझा जाता है और तत्वज्ञान प्राप्त करना गौण पदार्थ समझा जाता है। इसी कारण आज हमारे भारत में यह विद्या विप्लव मचा हुआ है कि गणिताचार्य्य विराजमान हैं न्यायाशन में, विज्ञानाचार्य्य अपना निर्वाह कर रहे हैं वकालत से, साहित्याचार्य्य बने हुवे हैं पुलिस इन्स्पैक्टर, इतिहासाचाय्य बने हुवे हैं "फौरेस्ट आफिसर", आज जो डी. एस. सी. परीक्षा में पास हुवा, कल वह देखा जाता है वकालत पढ़ते हुवे और परसों वही किसी दफ़्र में कलम घिसते हुवे पाया जाता है इत्यादि इत्यादि।

यदि बात इतने में ही वीत जाती तो कुछ चिन्ता न थी किन्तु इस विद्या विप्लव का परिणाम भयङ्कर अनुमान होता है; ऐसा जान पड़ता है कि एक दिन ऐसा आयगा कि हमारे सामाजिक शास्त्र की सर्वोत्तम निष्पत्ति का लोप हो जायगा, चार वर्ण–विप्लव हो जायगा, हमारी जाति में यथार्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और अच्छे अच्छे शिल्पकारों का भली भांति अभाव हो जायगा, रह जायंगे अधिकांश नौकर, कुली, और मज्दूर; क्योंकि एक ओर से तो चारों वर्ण नौकरी के लिये अपनी अपनी वर्ण शिक्षा को अपने अपने वंश-परम्परागत

कर्म को सरासर छोड़ते चले आ रहे हैं, और दूसरी ओर से परकीय शिक्षा को प्राप्त कर रहे हैं अधूरी, बिना निश्चित लक्ष्य के, बिना तत्व जिज्ञासा के, केवल परीक्षोत्तीर्ण होने के लिये, नौकरी पाने के लिये ; एक ओर तो प्राचीन शिक्षा का सरासर त्याग हो रहा है और दूसरी ओर अर्वाचीन शिक्षा पूर्णतया प्राप्त हो नहीं रही,—इतने समय से हमारे भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार हो रहा है परन्तु कहिये हमारे वर्तमान विज्ञानाचार्य्यों ने कितने आविष्कार किये, साम्पत्तिकाचार्य्यों ने कितनी अपनी समाज की आर्थिकावस्था सुधारी, हमारे डाक्टरों में से कितने ऐसे हैं जो अपनी बताई हुई औषधियों को आप बना सकें।

एक ओर तो शिक्षा की यह दशा और दूसरी ओर हमारी जाति से ब्रह्मकर्म का दिन प्रतिदिन लोप होता जारहा है। क्षात्र कर्म का तो प्रायः अभाव होई चुका, यदि दलाली का नाम वाणिज्य है तो वैश्य कर्म कुछ रहा हुवा है, किन्तु यह भी क्षात्र कर्म का अनुकरण करने को तय्यार हैं। वास्तव में वैश्य कर्म का लोप हुवे बहुत समय होचुका है; और यदि हमारी समाज का चतुर्थ अङ्ग भी निरामय होता तो क्यों आज हमारे बाज़ार जापान के रद्दी माल से भर जाते, क्यों हमको छोटी छोटी वस्तुओं के लिये विदेशी जहाज़ों की बाट जोहनी पड़ती, यदि हम अपनी प्राचीन शिक्षा शैली को न छोड़ते तो आज हमारी समाज की यह शोचनीय दशा न होती; और यदि अर्वाचीन शिक्षा को ही ठीक ठीक प्राप्त कर लेते, यदि हम को तत्व जिज्ञासा होती तब भी आज भारत अपने पड़ोसी जापान के बराबर होता, आज भारत त्रिशंकुरूप में विराजमान न होता, न आज माई अन्नपूर्णा के देश में ऐसा अन्नाभाव

होता, न रत्नगर्भा भारत भूमि को अपनी आवश्यक वस्तुओं के लिये पराये मुख ताकना पड़ता, न हमारी शिक्षित समाज पराधीन वृत्ति होती, न भारत में देश देशान्तरों से कुली चालान आते, न भारत सन्तान के ऐसे ठट्ठे उड़ते, न जर्मन संग्राम से यहां ऐसी महँगी पड़ती। अनर्थों का एक दृश्य तो यह है॥

अब दूसरा दृश्य भी देखिये। किंचित पूर्व हिन्दू मुसलमानों में प्रायः ऐक्य था, दिन प्रतिदिन भेद भाव का लोप होता जारहा था, जबसे वे वर्तमान शिक्षा शैली के रसिक हुये, जबसे वे अपने स्कूल और कालेज अलग अलग खोलने लगे, जब से वे सरासर इम्तिहान पास करने लगे, तब से उनमें नौकरी की इच्छा होने लगी, एक दूसरे से नौकरी में अपना स्वत्व अधिक समझने लगे, अलग अलग डेप्यूटेशन भेजे जाने लगे, एक दूसरे का द्वेष करने लगे, एवं क्रमात् अब उनमें पूर्ण वैमनस्य आन खड़ा हो गया है, अब दोनों का एक भाव से कोई काम करना कठिन हो गया है। यदि वे तत्व जिज्ञासा से शिक्षा के रसिक होते तो यह शोचनीय दशा कभी न होती॥

ब्राह्मण वर्ग पहिले से ही विद्या सम्बन्धी बातों में अग्रसर था अतः वर्तमान शिक्षा शैली में भी वह अग्रसर रहा, इसलिये सर्कारी नौकरी में उसी का आधिक्य रहा, दिन प्रतिदिन वह अपने स्वभावज कर्म को छोड़ता गया और परिचर्य्यात्मक वृत्ति को ग्रहण करता गया, नौकरी सम्बन्धी बातों में उसी का डंका बजा, यह देख अन्य तीन वर्ण भी नौकरी के लिये लार टपकाने लगे, ब्राह्मणों की ईर्षा करने लगे, उनको बुरा भला कहने लगे, उनकी देखा देखी आप भी सर्कारी नौकरी

के लिये "मोहि गिनोरी मोहि गिनो, मैं दुलहन की मौसी" कहने लगे, स्वाधीन वृत्ति का त्याग करने लगे, भीरुता, खुशामद, चुगली, झूठी मुखबिरी, विश्वासघात आदि दास्य गुणों का आवाहन करने लगे। विचारिये यदि वर्त्तमान शिक्षा शैली का नौकरी के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य होता तो क्या यह दुरावस्था आन खड़ी होती?

इन दिनों हत भाग्य भारत के आधार का टिमटिमाता हुआ दीपक, डूबता हुआ सूर्य्य कृषक गण और मारवाड़ी वैश्य हैं अब वे भी वर्तमान शिक्षा शैली के रसिक हो चले हैं, इनको भी सर्कारी नौकरी का चश्का लगने लगा है, कृषि और व्यापार तुच्छ समझे जाने लगे हैं। इसका भी शोचनीय फल शीघ्र दृष्टि गोचर हो जायगा॥

यह घोर वर्ण विप्लव, यह कलाकौशल का सर्वनाश, यह आपस का विरोध, यह पैशाची सम्पद् की वृद्धि, यह विपरीत बुद्धि आदि अनेक अनर्थ परिचर्य्या लक्ष्यात्मक शिक्षा शैली के ही परिणाम हैं। इतना ही क्या यदि हमारी शिक्षा शैली ऐसी ही रही, समय ने पल्टा न खाया तो आसन्न भविष्य में इस शिक्षा शैली का भयङ्कर परिणाम व्यक्त हो जायगा और तब सिवाय हाथ मलने और शिर धुनने के और कोई चारा नहीं रहेगा।

अब विचारिये जिस मनुष्य का मस्तिष्क क्षीण, शरीर निस्सत्व हो गया है, प्रतिभा और विवेक जिसके जाते रहे हों, विजातीय रङ्ग में जो रङ्ग गया हो, वृत्ति जिसकी परहस्तगत हो, लक्ष्य जिसका उदर पोषण हो, सर्वस्व जिसका नौकरी हो, चित्त में जिस के मात्सर्य्य भरा हो, विचारिये बुद्धि उस

मनुष्य की कैसी होगी? ऐसा बुद्धि रूपी सूर्य्य और ऐसा शरीर रूपी जलाशय पाकर हृद्‌यार विन्द में दैवी सम्पद् की आशा करना क्या है कि मानो जेसलमेर के मरु भूमि में कस्तूरी मृग को ढूंढना है, ऐसे निस्सत्व शरीर, ऐसी तामसी बुद्धि और ऐसे सङ्कीर्ण हृदय के आधार में ज्ञान, कर्म, कर्ता, धृति और सुख सभी तामसी होवेंगे, ऐसी तमोमयी सामग्री लेकर बड़े बड़े काम करने की आशा करना, पराक्रम की लालसा रखना, स्वजातीय गौरव की इच्छा करना, देशभक्ति की बांछा करना, परोपकार का बीड़ा उठाना, पुरुषार्थ की अभिलाषा करना, कीर्ति की स्पृहा करना, सुखमय जीवन की प्रतीक्षा करना, स्वर्ग की कामना करना, भवसागर पार होना, क्या है कि मानो कृषि को मृगतृष्णिका के जल से अदेवमातृका बनाना है।

क्षणिक जागृति

वर्तमान शिक्षा शैली की नदी में बहते हुवे, वारंवार कष्ट रूपी शिलाओं में टकराने से हमारे कतिपय विचार शील सज्जनों की आंखें खुलीं, वे सचेत होकर देखने लगे तो उक्त नदी में उनको दुखान्त परिणाम रूप अनेक विकट यादस, विविध भयङ्कर भौंरे दिखाई देने लगे; अतः स्वनाम-धन्य वे भारत के भावी सन्तता के लिये स्थान स्थान में चेतावनी का प्रबन्ध करते गये ठौर ठौर में आत्मनीन शिक्षा सम्बन्धी संस्थारूप नौकाओं को डालते गये। कांगड़ी गुरुकुल और बङ्गाल नेशनल कौलेज के समान स्वाधीन संस्थावों का आविर्भाव होने लगा; हिन्दू और मुसलमान अपने अपने विश्व

विद्यालय खोलने लगे ; अतः भारत का भविष्य अत्यन्त रम-णीय भासमान होने लगा, आशारूप-विद्युल्लता चमकी, प्रकाश हुआ, क्षणमात्र में अन्तर्धान भी हो गई, दूना अन्धकार छा गया, गुरुकुल परिमित संख्या से अधिक विद्यार्थियों को न ले सका, बङ्गाल नेशनल कोलेज डगमगा गया, छोटी छोटी आत्मनीन संस्थायें अर्थाभाव के कारण चल न सकीं, हिन्दू विश्वविद्यालय चला था पूर्वकी ओर किन्तु जा निकला पश्चिम में, मुस्लिम विश्वविद्यालय के संचालक सङ्कल्प विकल्प में पड़ गये।

दोनों ओर अनर्थ

भय्या मेरे ! एक ओर तो वर्तमान शिक्षा-शैली के विद्य-मान और भावी परिणाम ऐसे भयङ्कर और दूसरी ओर आत्म-नीन शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओं का चलना प्रायः असम्भव और बड़े बड़े सञ्चालकों का परिणाम ऐसा शोचनीय। और फिर एक ओर तो ऐसे भयङ्कर भौंरे और यादस, हवा ऐसी उलटी, और दूसरी ओर नाव ऐसी डगमगाती हुई, खेवट ऐसे भीरु और मतवारे, और तिस पर नाव में चढ़े हुए हमारे नन्हे नन्हे बालक, किनारे से देखने वाले हमलोग !! तो अब क्या किया जाय ?—अपने प्यारे बालकों को भौंरों में टकराते हुए, यादसों से नोचे जाते हुए देखते रहना चाहिये ; अथवा उनको बचाने के लिये हमको अपनी अपनी नाव लेकर चल पड़ना चाहिये !—चल तो हम पड़ेंगे किन्तु क्या हम उनको बचा भी सकेंगे ? अवश्यमेव बचा सकेंगे ! यह कोई कठिन काम नहीं है, न इसमें आन्दोलन की आवश्यकता, न चन्दे की ज़रूरत, न नये स्कूल कौलेज खोलने की ज़रूरत, न रिकौग-

निशन की आवश्यकता, न 'एफिलियेशन' की ज़रूरत और न चार्टर का प्रयोजन, न किसी से परामर्श करना, न किसी का भ्रू-भङ्ग और न किसी की साबाशी। कहिये अब इसमें कठिनाई क्या है—हां कठिनाई उनके लिये ज़रूर है जो सर्कारी नौकरी को अपना लक्ष्य बनाये हुए हैं, वही जिनका सर्वस्व है, उसी ही की प्राप्ति को जो पुरुषार्थ की पराकाष्ठा, गौरव का परमास्पद समझे हुए हैं, परिचर्य्या के अतिरिक्त जिनको जीवन-यात्रा का अन्य कोई उपाय सूझता ही नहीं, जिनको अभी यह धारणा बनी हुई है कि जितने लोग सरकारी इम्तिहान पास कर लेंगे उन सबको नौकरी मिल जायेगी, जिन्होंने अभी उस समय का अनुमान नहीं किया जब कि भारत में अन्य देशों की उद्धत प्रजा आ बसेंगी; और बड़े बड़े तालुकेदार, ज़मींदार, सेठ साहूकारों के लल्ला नौकरी उठाने लगेंगे, जो यह आशा किये हुए हैं कि सदा सावन बना ही रहेगा सदा तुरई फूलती रहेगी, इसी आशा से जो अपने बालकों को अंगरेज़ी भाषा सिखाने और अंगरेज़ी ढङ्ग से रखने के लिये अनेक उपायों में लगे हुए हैं, पर साहित्यरूपी सिभेट गन्ध से मस्त होकर जो स्व-साहित्यरूपी मृगमद को तुच्छ समझे हुए हैं, जिनके हृदय में जातीयभाव नहीं है, जो जातीय गौरव की महिमा को नहीं जानते; जो प्रतिकूल वायु में खड़ा नहीं रह सकते हैं, जो पवन के झोकों में उड़ चलने को देश-कालज्ञता समझे हुए हैं, जो भूत और वर्तमान से भविष्य का अनुमान नहीं कर सकते हैं। किन्तु जो ऊंच नीच देख चुके हैं, जो पराधीन वृत्ति के परिणामों को जान गये हैं, जिनको आजीविका के उपाय नौकरी के अतिरिक्त और भी सूझ सकते हैं। जो यह जान गये हैं कि 'आयू रक्षति मर्माणि आयुरन्नं प्रयच्छति' जो सपौरुष-जीवन को जीवन समझते हैं, जो सात्विक

सुख को दुख मानते हैं, जो दर्शक मण्डली की सावासी मंगाते हुए संसार रूपी रंग-शाला से निष्क्रमण करना चाहते हैं। जो स्वसाहित्यरूपी उपवन में विहार कर चुके हैं, जो अपने बालकों को पौलाद बनाकर छोड़ देना चाहते हैं, जो नौकरी के लिए उनका सर्वस्व खोना नहीं चाहते हैं, अथवा जो कारण वशात् अपने बालकों को सरकारी स्कूल और कालेज में नहीं पढ़ा सकते हैं। जो अपने बालकों की शिक्षा अपने हाथ में रखना चाहते हैं। वे अनायास अपने बालकों को पूर्वोक्त सङ्कट से बचा लेंगे और उनको नदी के पार उतार देंगे। इसमें सन्देह क्या !!

* *

इस लेख से यह नहीं समझना चाहिये कि पश्चात्य-विज्ञान उपेक्षणीय पदार्थ है, अंगरेज़ी भाषा नहीं सीखनी चाहिये, सरकारी स्कूल और कालेजों का बहिष्कार कर देना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान शिक्षा-शैली में अनेक दोष हैं, उसका परिणाम भयङ्कर होता हुआ देखा गया है। उसके उक्त दोषों को सरकार हटा नहीं सकती है। इस विषय में बार बार सरकार से अभ्यर्थना करना, बार बार उसको कष्ट देना वृथा है। यह काम कुछ भी कठिन नहीं है, हम इसको भली भाँति कर सकते हैं।

हमारा कर्तव्य

अब यदि हमको अपनी सन्तति को वर्तमान शिक्षा-शैली के दोषों से बचाना है तो हमको स्वयं प्रयत्न करना चाहिये, समष्टिरूप से और व्यष्टि रूप से शीघ्र इस काम में तत्पर हो जाना चाहिये, सोचने विचारने की कोई आवश्यकता नहीं, बहुत सोच विचार हो चुका, पर्य्याप्त अनुभव हो लिया,

अब यदि वक्ष्यमाण शैली उचित समझी जाय, सुसाध्य और हितकारी जान पड़े तो हम को अपने बालकों की शिक्षा अपने हाथ में ले लेनी चाहिये, इसमें न आन्दोलन की आवश्यकता, न संचालन का प्रयोजन, न किसी की सल्लाह सम्मति से काम, न कोई प्रस्ताव उठाने की जरूरत, न सरकार को कष्ट देने से मतलब और न किसी की खुशी नाराजी की परवाह ; करना हमको केवल इतना है कि प्रत्येक शिक्षित मनुष्य को कम से कम बाल-शिक्षा-वसान तक अपने बालकों की शिक्षा अपने हाथ में रखनी चाहिये, इसके लिये कुछ परिश्रम, कुछ कष्ट अवश्यमेव करना पड़ेगा परन्तु फल भी इसका शतधा और सहस्रधा श्रेयस्कर होगा, प्रत्येक मनुष्य जो थोड़ा भी पढ़ा हुवा है अत्यल्प परिश्रम से अपने बालकों को आप पढ़ा सकता है, जिससे उसके बालकों की शिक्षा स्कूलों की अपेक्षा बहुत ही अच्छी होगी और फीस वग़ैरह का खर्च नफे में बच जायगा इन दिनों फीस इत्यादि के बोझ से लोग जैसे दबे जा रहे हैं वह सभी जानते हैं और जैसा आगे को दबेंगे यह भी अनुमान हो सकता है। इतने पर भी यदि हमारी आंखें न खुलीं तो कहा क्या जाय, भारत के दिन पूरे हुवे समझ लेना चाहिये !!!

ॐ

उपक्षिप्त शैली

जो महानुभाव अपने बालकों की शिक्षा अपने हाथ में लेना चाहें उनको यह स्मरण रखना चाहिये कि बालक को मनुष्य बनाना क्या है कि मानो लोहे के टुकड़े को तलवार बनाना है। जैसे लोहे से तलवार बनाने के लिये तीन बातों की आवश्यकता होती है कि प्रथम फ़ौलाद बनाना, द्वितीय

धार देना और अन्तिम पानी चढ़ाना, एवं बालक को पुरुष बनाने के लिये भी तीन बातों की आवश्यकता होती है प्रथम दैवी सम्पद्, द्वितीय विवेक और अन्तिम सभ्यता।

बालक में दैवी सम्पद लाने के लिये अधोलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये:—(१) आहार, (२) अनामय, (३) प्रेमाचरण, (४) क्रीड़ा, (५) बुद्ध्युद्बोधन, (६) शीलोत्पादन, (७) आदर्श जनन (८) औदार्य्य (९) गार्हस्थ शिक्षा।

(१) आहार—कौन नहीं जानता है कि समस्त मानुषी क्रिया बुद्धि पर, बुद्धि शरीर पर, और शरीर भोजन पर निर्भर है, जैसा मनुष्य का आहार होगा वैसा उसका शरीर होगा, जैसा उसका शरीर होगा वैसी उसकी बुद्धि होगी और जैसी उसकी बुद्धि होगी वैसी उसकी चेष्टा होगी, अतएव हमारे ऋषियों ने हमारे आचार्य्यों ने सात्विक आहार को इतना प्राधान्य दिया है, उसके लिये इतना आग्रह किया है। यह सिद्ध है कि सात्विक आहार से मन और बुद्धि सात्विक, और राजसिक और तामसिक भोजन से वे भी राजसिक और तामसिक होजाते हैं, ऐसे शरीर से सहिष्णुता जाती रहती है, थोड़ी भूख प्यास किञ्चित् शीतोष्ण अत्यल्प सुख दुःख आदि द्वन्दों से उसमें विपर्य्यास पड़ जाता है, प्रतिकूल कारणों की छाया मात्र से शरीर अस्वस्थ और चित्त उद्विग्न हो जाता है, ऐसे असहिष्णु, विपर्य्यस्त और अस्वस्थ शरीर और ऐसे उद्वेग शील चित्त में प्रसन्नता कभी हो नहीं सकती है; जिसका चित्त प्रसन्न नहीं रहा करता है उसको बुद्धि भी ठिकाने नहीं रह सकती है। अब अनुमान कीजिये कि ऐसे शरीर ऐसे चित्त और ऐसी बुद्धि के द्वारा कर्म कैसे होवेंगे।

यदि कोई जिज्ञासु इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण ढूढ़ना चाहे तो उसको निम्न लिखित चार बातें करनी चाहिये और

तब उसको जैसा अनुभव हो उसको वह स्मरण रखै, तो उसको इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जायगा कि शरीर, मन, बुद्धि और कर्म में भोजन का कैसा प्रभाव पड़ता है। वे बातें जो करनी हैं ये हैं:—

१—एक सप्ताह तक नित्य उपवास अथवा अत्यल्पाहार किया जाय और तब अपने शरीर, मन और बुद्धि की जो दशा होगी वह स्मरण रखनी चाहिये। पहिले यह अनुभव होगा कि शरीर निर्बल होता चला आ रहा है, तदनु चित्त निरुत्साह और म्लान होगा, फिर बुद्धि मन्द हो जायगी, स्मृति क्षीण हो जायगी, तदनन्तर स्वभाव में असहिष्णुता और क्रोध भर आवेगा।

२—एक मास तक केवल निस्सार रूखा, खारा, तीक्ष्ण, भारी और वासी भोजन किया जाय तो कुछ समय पीछे यह अनुभव होगा कि आहार का प्रमाण बढ़ गया है, शरीर भारी हो गया है, स्फूर्ति जाती रही, चित्त में भीरुता आगई है, बुद्धि मलिन हो गई है, विवेक जाता रहा, शारिरीक और मानसिक तेज का ह्रास हो गया है और पौरुषकी ओर अरुची हो गई है।

२—कुछ दिनों तक तेज मसालेदार मांस का आहार किया जाय, खूब चटपटे, खट्टे पदार्थ खाये जांय, मद्य का सेवन किया जाय तो कालान्तर में यह देखने में आयगा कि शीतोष्ण, सुख दुःख आदि शारीरिक कष्टों को सहन करने की शक्ति जाती रही, शरीर निस्सार हो गया है, अल्प प्रतिकूल कारण से भी शरीर में वायु पित्त आदि कोप कर बैठते हैं, थोड़ी बात से चित्त काम क्रोध लोभ के वशीभूत हो जाता है, शान्ति बिलकुल जाती रही, चित्त में विषय सुख के अतिरिक्त और कोई वासना नहीं रही, इन्द्रियोंका वेग प्रबल हो चला।

४—अन्त में कुछ दिनों तक दूध चावल, फल तुलसीदल आदि सात्विक पदार्थों का आहार किया जाय तो यह जान पड़ेगा कि शरीर हलका हो रहा है, स्फूर्ति आरही है, नाड़ियां शुद्ध हो रहीं हैं, भूख प्यास शीतोष्ण आदि द्वन्दों को सहन करने की शक्ति आरही है, कभी किसी बात में न अधैर्य होता है न जी उकताता है, चित्त सदा शान्त और प्रसन्न रहता है, बुद्धि निर्मल हो रही है।

सारांश यह है कि शरीर और चित्त को निरामय रखने के लिये सात्विक भोजन अत्यावश्यक है, प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इस बात के प्रमाण हैं कि समस्त प्रकार के भोजनों में गाय का दूध सर्वोत्तम सात्विक आहार है, जो आजन्म और मरण पर्यन्त हितकारी समझा गया है, अतएव हमारे धर्मशास्त्रों ने, हमारे ऋषियों ने, हमारे आचार्य्यों ने, हमारे सामाजिकों ने, हमारे सम्पत्तिकों ने, हमारे दैशिकों ने गोरक्षा की ऐसी महिमा गाई है, इसी लिये आर्य्यसन्तानने गौमाता को अपना सर्वस्व समझा, उसके लिये अपने प्राण भी दे दिये। इसी हेतु भगवती भूधात्री को यह रूप ऐसा प्यारा लगा कि जब जब उसको रूप धरने की आवश्यकता हुई तब तब उसने गोमाता का ही रूप धरा।

अतः गर्भावस्था से विद्यावसान तक—यदि विद्यावसान तक न हो सके तो, कम से कम सोलह वर्ष तक बालक के आहार में गाय के दूध का अधिकांश होना चाहिये। यह सम्भव तबही हो सकता है कि जब प्रत्येक गृहस्थी कम से कम तीन अच्छी दुधैली गाय सदा अपने घर में रक्खा करें। जिससे उसके घर में कभी गाय के दूध का अभाव न रहे। बाज़ार और ग्वालों से खरीदे हुवे दूधसे काम नहीं चल सकता है। यह बात भी अनुभव सिद्ध है कि बाज़ार और ग्वालों से दूध लेने की अपेक्षा

घर में गाय पालने में अनेक प्रकार का लाभ रहता है। येन केन प्रत्येक गृहस्थी को अपने घर में सदा गाय के दूध का प्राचुर्य्य रखना चाहिये जिससे बालकों को सदा सात्विक भोजन मिला करै। एवं जब सात्विक आहार से बालक का शरीर, मन और बुद्धि सात्विक हो जायेंगे तो फिर जैसी शिक्षा चाहिये वैसी उनको मिल सकती है, वे वंश बुद्धि हो जायेंगे, उनको कोई बात सिखाने में कुछ कष्ट न होगा, विलम्ब से होने वाला कार्य्य शीघ्र हो जायगा।

किन्तु साथही इसके इस बात का भी ध्यान रहै कि बालक रसनेन्द्रिय के वशीभूत न हो जाय, उसमें जिह्वालौल्य न आजाय, बिना दूध के भी वह रह सकै, उदर पोषण को वह परं पुरुषार्थ न समझने लगे। क्योंकि बहुधा यह देखा गया है कि जिह्वाचापल्य से अनेकों का शील भ्रष्ट होगया, बहुतों को इस कारण अनेक कष्ट भोगने पड़े, अपरंच मनुष्य के रसनेन्द्रिय से पराभूत हो जाने पर अन्य इन्द्रियगणों का भी उत्साह बढ़ जाता है, वे मनुष्य को अपने वश में कर लेते हैं, इन्द्रियों के वश में पड़ा हुआ मनुष्य जो नीच कर्म न कर बैठे, जो उत्पात न करै, जो कष्ट न भोगे सो थोड़ा है। अतः बालक को यह अभ्यास करवाना चाहिये कि वह जिह्वा को अपने वश में रख सकै। किन्तु इससे कोई यह न समझे कि बालक निरे तपस्वी बनाये जांय। उनको कभी कोई स्वादु भोजन न दिया जांय। ऐसा करने से तो अनर्थ हो जायगा, भलाई के बदले बुराई हो जायगी, बालकों के शील-रूप दुर्ग में एक बड़ा छिद्र रह जायगा, विकार हेतु के उपस्थित होने पर उनके चित्त में विकार उत्पन्न हो जायगा, अतः उनको भोजन ऐसा और इस विधि से मिलना चाहिये कि भोजन के विषय उनकी वृत्ति उदासीन हो जाय, ऐसा हो जाय कि न तो दिव्य भोजन के लिये उनकी लार टपकै और

न साधारण भोजन से असन्तोष हो, न तो ग़रीब बालक अच्छा भोजन मिलने पर बौरा जांय और न सम्पन्न बालक रूखे सूखे आहार से नाक सिकोड़े। बालकके चित्त में यह बात खूब समाजानी चाहिये कि आहार का उद्देश्य है शरीर रक्षा और शरीर रक्षा का है पुरुषार्थ। बालकों के चित्त से जिह्वा का आधिपत्य उठा देने का एक उपाय यह है कि उसके आठवें वा नवें वर्ष से अथवा जब उसकी पाचनशक्ति खूब बढ़ जाय तो यह नियम कर देना चाहिये कि कभी तो उसको दिव्य भोजन दिया जाय और कभी बहुत साधारण आहार मिलै, और यह निश्चित नहीं होना चाहिये कि कब, कितने समय तक, कैसा भोजन मिले। ग़रीबों के बालकों को कभी खूब अच्छा भोजन मिलना चाहिये और धनवानों के बालकों को कभी कभी बिलकुल रूखा सूखा भोजन मिलना चाहिये।

यह पूर्वोक्त नियम भोजन के स्वाद के विषय बर्ता जाना चाहिये न कि उसके गुणों के विषय॥

२–अनामय--सांसारिक सुखों का भोग और पुरुषार्थ करने के लिये सबसे प्रथम और आवश्यक पदार्थ है अनामय। और अनामय के लिये तीन बातें अनिवार्य्य हैं :—

(१) पथ्य भोजन, (२) व्यायाम, (३) ब्रह्मचर्य्य।

पथ्य भोजन—भोजन ऐसा होना चाहिये जो सात्विक हो, जो अपनी पाचनशक्ति के अनुकूल हो, और जिसमें विषम पदार्थों का संयोग न हो; जैसा खरबूज़ा और दूध, दूध और खटाई। यह बात स्मरण रहनी चाहिये कि दूध अनेक पदार्थों से वैषम्य रखता है; अतः उसके साथ मीठा और हविष्यान्न को छोड़ और कोई पदार्थ नहीं खाना चाहिये। यह भी ध्यान में

रहै कि तुलसीदल में सत्व शुद्धि की बड़ी शक्ति है, इसके सेवन से चित्त बड़ा प्रसन्न रहता है ; आहार का कुछ वर्णन पहिले हो चुका है और शेष आयुर्वेद में देख लेना चाहिये ।

व्यायाम—शरीर के करण, नाड़ी, धमनी इत्यादियों के व्यापारको ठीक और चलता रखने के लिये व्यायाम की बड़ी आवश्यकता होती है, और व्यायाम के लिये तीन मुख्य नियमों का ध्यान रखना चाहिये ।

प्रथम नियम यह है कि व्यायाम में किसी प्रकार का मानसिक संक्षोभ नहीं होना चाहिये ।

द्वितीय यह कि वह अपनी शारीरिक शक्ति और भोजन के अनुकूल हो ।

तृतीय यह कि जब इच्छा हो तत्काल वह छोड़ दिया जाय ।

इस विचार से स्कूलों और कालेजों में प्रचलित हौकी फुटवौल आदि खेल ठीक नहीं समझे जा सकते हैं । इसका वर्णन पहिले हो चुका है ।

अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि विद्यार्थी के लिये सब से अच्छा व्यायाम है वनविहार, घूमने अथवा वनविहार का स्थान ऐसा होना चाहिये जो खुला हो, जहां मनुष्यों की भीड़ न हो, जो नगर से बाहर हो, जहां पवन निर्मल हो, जहां प्रकृति देवी की शोभा स्वच्छन्द-रूप से विराजती हो । जहां से अस्ताचल चूड़ावलम्बी सूर्य भगवान् के दर्शन मिलते हों, ऐसे स्थान में घूमने से शारीरिक व्यायाम के अतिरिक्त चित्त में शान्ति और अनिर्वचनीय आह्लाद प्राप्त होता है । किन्तु यह स्मरण रहै कि नित्य एक ही स्थान में, एक ही मार्ग से, एक ही नियम से घूमना, अथवा वनविहार नहीं करना चाहिये ।

अनेक महाशय नित्य एक ही मार्ग से, एक ही नियम से, एक ही स्थान को घूमने को जाया करते हैं। और यदि घूमते कुछ विलम्ब हो जाय अथवा कुछ अंधियारा हो जाय, या एक दो मील से कुछ अधिक चलना पड़े, या कभी राज मार्ग से हटकर वन में जाना पड़े तो उनको घबराहट हो जाती है; यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस वनविहार में स्वतन्त्रता नहीं, जिसमें चिन्ता लगी रहै, जिसमें घर का ध्यान बंधा रहे; जिसमें भगवती प्रकृति की शोभा के दर्शन नहीं उसमें नाड़ी और पेशियों के खींचा तानी के अतिरिक्त कुछ लाभ नहीं। अपरंच इस प्रकार की हवा खोरी से चित्त और शरीर में ठीक वैसा ही परिणाम होता है जैसा नित्य एक ही प्रकार का भोजन करने से जिह्वा और आमाशय में होता है अर्थात् वनविहार से हृदय में जैसा आह्लाद, चित्त में जैसी शान्ति, शरीर में जैसा हलकापन होना चाहिये वैसा उक्त प्रकार की घुमाई से नहीं होता है। नित्य एक ही प्रकार का ढंग रखने से घुमाई से अरुचि हो जाती है। अपरंच यदि दैवात् कभी दूसरे नियम से हवा खोरी हो बैठी तो चित्त में एक प्रकार का अधैर्य हो जाता है, समीपवर्ती स्थान भी दूर मालूम पड़ने लगता है।

जब बालक तेरह वर्ष का हो जाता है तो उसको ठीक क्रियानुसार एक दो योगासन और कुछ नाड़ीशोधन क्रिया का अभ्यास करा देना चाहिये। उक्त क्रिया न कठिन है और न भयंकर जैसा कि बहुत लोग समझे हुये हैं, हां यह ठीक है कि बिना योगासन में कुछ कुछ अभ्यास हुये नाड़ी शोधन क्रिया नहीं करनी चाहिये, योगासन में अभ्यास हो जाने पर नाड़ी शोधन क्रिया ही क्या वरन प्राणायाम भी सरल हो जाता है। और योगासनों को सिद्ध करना कुछ कठिन बात नहीं है।

वे मामूली कसरतों के रूपान्तर मात्र हैं, उनमें कभी किसी प्रकार का भय हो नहीं सकता। योगासनों में पहिले बद्ध पद्मासन और पश्चिमोतान अथवा उग्रासन करने चाहिये; इनमें अभ्यास हो जाने पर नाड़ीशोधन क्रिया सरल हो जाती है। एक बार अभ्यास करके देखिये आपका अनुभव इस बात की साक्षी देगा, किम्बहुना।

ब्रह्मचर्य्य—समस्त शारीरिक पदार्थों में वीर्य्य एक ऐसी वस्तु है जिसके प्रताप से शरीर में प्राण की क्रिया ठीक ठीक रहती है। जिसके वर्तमान रहने से समस्त बाह्याभ्यन्तरिक करण अपने अपने काम को ठीक ठीक करते जाते हैं किसी अंग में, किसी नाड़ी में, किसी धमनी में मल संचय नहीं होने पाता, शरीर निरामय और बलिष्ट रहता है। मिथ्या आहार विहार जन्य रोग शीघ्र शान्त हो जाते हैं। जिसके प्रभाव से चित्त में सदा तेज, उत्साह, आह्लाद, धैर्य, अभय और चिन्ताभाव विराजमान रहते हैं। वीर्य ही मानसिक और शारीरिक ओज और सहिष्णुता का मुख्य आधार है। वीर्य्य शब्द ही उक्त पदार्थ के गुणों का वर्णन किये देता है।

अधिक अधिकांश मनुष्य इस बात को अच्छी तरह जान सकते हैं कि वीर्य जब वहिर्मुख होकर वेग करता है तो मनुष्य अथवा पशु कैसा दुर्निवार्य्य और दृढ़ संकल्प हो जाता है, अब इससे यह अनुमान हो सकता है कि यदि वीर्य्य अन्तर्मुख होकर ओज में बदल जाय तो शरीर और मन की अवस्था कैसी सुन्दर न हो जायगी। इसीलिये तो हमारे ऋषियों ने ब्रह्मचर्य्य को इतना महत्व दिया और इसी हेतु देश देशान्तरों में भी ब्रह्मचर्य्य की प्रथा प्रचलित हुई।

अनेक मनुष्य हठात् रतीच्छा को रोकने को ही ब्रह्मचर्य्य समझते हैं। हठात् रतीच्छा को रोकने से वीर्य्य अन्तर्मुख

होने के बदले अधिक बहिर्मुख हो जाता है। और अनेक प्रकार के शुक्र दोष उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु यथार्थ ब्रह्मचर्य्य कहते हैं शुद्ध वीर्य्य का संचय करके उसका ओज में रूपान्तर करना, कई गुना शुद्ध वीर्य्य से बनता है एक गुना ओज, जितना शुद्ध वीर्य्य का संचय होगा उतना मनुष्य में ओज भी होगा,

अतः यथार्थ ब्रह्मचर्य्य के लिये वीर्य्य को शुद्ध रखना, कामस्थान से उसको हठाना, चित्त में उसका विकार न होने देना और उसको ओज में परिवर्तित कर देना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये अनेक आनुषंगिक नियमों का पालन करना पड़ता है जिनका वर्णन ब्रह्मचर्य्य और वाणप्रस्थधर्म सम्बन्धी ग्रन्थों में दिया हुवा है।

इन दिनों हमारे बालकों का जिस प्रकार का आहार विहार का ढंग है, जिस प्रकार उनको शिक्षा मिलती है, जिस प्रकार के उनके संसर्ग होते हैं उनके कारण यथार्थ ब्रह्मचर्य्य हो नहीं सकता है। चाहे कोई हठात् काम के वेग को रोक लेवे किन्तु यह ठीक ब्रह्मचर्य्य नहीं, यथार्थ ब्रह्मचर्य्य के लिये सात्विक आहार, पवित्र संस्कार, पावन संसर्ग होने चाहिये और अनेक प्रकार के मानसिक, वाचिक, और शारीरिक व्यायाम करने पड़ते हैं जिससे वीर्य्य कामस्थान को छोड़ अन्यत्र संचय होने लगता है और क्रमशः ओज में उसका परिवर्तन होने लगता है।

अतः आठवें या नववें वर्ष से बालक के आहार, विहार, संस्कार और संसर्ग सब ब्रह्मचर्य्य के अनुकूल होने चाहिये, प्रतिकूल कारणों को उसके समीप नहीं आने देना चाहिये, ज्यों ज्यों यौवन समीप आता जाता है त्यों त्यों सावधानी और वृत्त काठिन्य भी अधिक अधिक होने चाहिये, जिन बालकों का प्रतिकूल आहार विहार में पालन पोषण हुवा हो, जिन्होंने

कुसंगति से प्रतिकूल संस्कार उपार्जित किये हों उनसे ब्रह्मचर्य्य वृत का पालन होना असम्भव है, इस लिये यदि बालकों से ब्रह्मचर्य्य करवाना अभीष्ट हो तो बाल्यावस्था से ही उनका रहन सहन ब्रह्मचर्य्य के अनुकूल होना चाहिये ॥

३—प्रेमा चरण—सभी मनुष्यों की यह इच्छा रहती है कि हमारे बालक पितृभक्त होवें, मनसा वाचा कर्मणा वे हमारी आज्ञा में रहैं, हमारी वाणी का प्रभाव उनके हृदय में अव्याहत रहै। उपदेश मात्र से ये बातें बहुत कम होती हुई देखी गई हैं, इसका एक अमोघ उपाय यह है कि बालकों से प्रेम का आचरण और विवृत भाव रखना चाहिये, इस प्रकार पशु पक्षी भी अपने हो जाते हैं मनुष्यों का तो कहना ही क्या, कठोर व्यवहार से ये बातें प्राप्त नहीं हो सकती हैं, प्रायः नव्वे सैकड़ा बालकों का विगड़ने का कारण उनके माता पिताओं की कठोरता पाई गई है। बहुधा यह देखने में आया है कि माता पिताओं की कठोरता के कारण बालक या तो पहिले ही घर से बिछुर कर कुसंगति में पड़ कर अपना नाश कर बैठते हैं, अथवा पीछे जब उनको अवसर मिलता है तो स्वैरी भाव उनमें बन्द पानी के समान फूट निकलता है, और फिर कोटि उपाय करने पर भी वह थमता नहीं, अतः बालकों से कभी निष्ठुर व्यवहार नहीं करना चाहिये, हां यह ठीक है कि उनको सदा अपनी दृष्टि में रखना चाहिये उनमें स्वैरी भाव नहीं आने देना चाहिये किन्तु यह भी स्मरण रहै कि उनको पींजरे का पक्षी भी नहीं बना देना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को अपने बालक को खूब प्यार करना चाहिये किन्तु यह प्यार जड़ भरत का जैसा प्यार भी नहीं होना चाहिये कि न तो आपको अपने बालक को देखे बिना चैन पड़े और न

बालक को इस ढंग से रखना चाहिये कि वह पिता को देखे बिना रह न सकें, उससे इस ढंग का व्यवहार करना चाहिये कि उसको आपके साथ बैठने में आनन्द प्राप्त होवे, आपकी बातें सुननेमें उसको हर्ष होवे, आपकी वाणीका उसके कोमल चित्त में अच्छा प्रभाव होवे, आपके अनुकूल रहनेमें उसको सुखमिलै, इस लिये शैशवावस्था से उसको गोद में लेकर इधर उधर कुछ घुमाना चाहिये, उसके कुछ सयाने होने पर उसके साथ छोटे बच्चे के समान खेलना चाहिये, उससे सदा प्रसन्न मुख और प्रसन्न चित्त होकर बोलना चाहिये, समय समय पर उसको विविध प्रकार के खिलौने देते रहना चाहिये, उसकी उचित और सुसाध्य आकांक्षा का कभी निराकरण नहीं करना चाहिये, किन्तु ऐसा भी नहीं होना चाहिये, कि बालक हठीला और ज़िद्दी बन जाय, बालक को दिये बिना आप कोई अच्छा खाना नहीं खाना चाहिये, भोजन करते समय सदा बालक को अपने पास बुला लेना चाहिये, यदि बालक कभी हठ और उद्दण्डता दिखलाने लगै तो उसका ध्यान दूसरी ओर ले जाकर पुच-कार कर उसको अपने वश में ले आना चाहिये, इसकी सब से अच्छी और सरल रीति यह है कि मीठी मीठी बातें करते हुवे उसको बाहर लेजाकर पशु पक्षी और पुष्प इत्यादि अच्छी अच्छी रमणीय वस्तु दिखाते हुए, बातों से उसका चित्त विनोद करते हुए कुछ दूर घुमा लाना चाहिये, पांच वर्ष तक ताड़ना का प्रयोग नहीं होना चाहिये; तदुपरान्त यदि कभी ताड़ना का प्रयोजन पड़े तो वह बहुत विरल और हलकी होनी चाहिये यथा शक्य इसका प्रयोग नहीं होना चाहिये; जब तक यह निश्चय न हो जाय कि साम और दाम से काम न हुआ, उसके ध्यान को दूसरी ओर ले जाने से भी कुछ फल न हुआ,

तब तक दण्ड का प्रयोग नहीं होना चाहिये। यदि ताड़ना का प्रयोग करना ही पड़े तो वह ऐसे शान्तभाव से होनी चाहिये कि बालक यह समझ लेवे कि इस ताड़ना का कारण हितेच्छा है न कि क्रोध, बालक को यह भी नहीं दर्शाना चाहिये कि आप उससे अप्रसन्न हो गये हैं। जब जब बालक कोई अच्छा काम करै तब तब वाणी से, पुरष्कारादि से उसका उत्साह बढ़ाना चाहिये, बीच बीच में छोटी २ मनोहर आख्यायिकों द्वारा उसका मनोरंजन करते रहना चाहिये; क्योंकि यह देखने में आया है कि बालक कथाओं के बड़े इच्छुक होते हैं, कथा सुनाने वालों से उनका बड़ा प्रेम होजाता है; जब बालक कुछ सयाना हो जाता है तो छोटी छोटी बातों में उसकी सम्मति ले लेनी चाहिये, जब कभी बालक कुछ अच्छी प्रवृति दिखलावे, कोई प्रशस्य कार्य्य करै तो उससे अपनी प्रसन्नता छिपाये न रक्खो, प्रसन्नता छिपाने से बालक का उत्साह मन्द पड़ जाता है, उसकी प्रवृत्ति दूसरी ओर होने लगती है।

४—क्रीड़ा—क्रीड़ा बालकों का स्वाभाविक धर्म है, शिशु चाहे मनुष्य का हो, चाहे पशु का हो, चाहे पक्षी का, अथवा कीट पतंग का, वह खेले विना रह नहीं सकता, जब कभी वह खेलना छोड़ देता है तो यही अनुमान होता है कि उसका स्वास्थ्य बिगड़ा हुवा है। जिससे यह सिद्ध होता है कि खेल से बालकों को कुछ न कुछ लाभ अवश्यमेव होता है; महामाया का कोई कार्य्य निरर्थक नहीं है, जान पड़ता है कि भगवती प्रकृति बालकों की सुकुमार बुद्धि, मृदुल शरीर की सम्बृधि क्रीड़ा द्वारा कराना चाहती है। बहुधा यह देखने में आया है कि शैशव में मनुष्य जिस प्रकार की क्रीड़ा में रत होता

है यौवन में उसका चरित्र भी वैसा ही होता है । चाहे हमको बाल्य की क्रीड़ा और यौवन के चरित्र में देशकाल निमित्त से अन्तर जान पड़े किन्तु वास्तव में उनमें गुणों का भेद नहीं होता है । बाल्यावस्था की क्रीड़ा से तारुण्य के कार्य्यों का बहुत कुछ अनुमान हो सकता है । शैशव के खेलों में यौवन के चरित्र का सूत्रपात हो जाता है ।

अतः बालकों की क्रीड़ा के विषय बड़ी सावधानी होनी चाहिये; यह तो निश्चय है कि बालकों के स्वभाव में भरा हुआ क्रीड़ा रस रूपी जल का निरोध हो नहीं सकता है । श्रेय उसको बहने देने में है न कि रोकने में, किन्तु हां, नहर खोद कर उसके बहाव के लिये मार्ग बना देना चाहिये । इसके लिये यह स्मरण रखना चाहिये कि खेल तीन प्रकार के होते हैं :—(१) सात्विक, (२) राजसिक, (३) तामसिक ।

सात्विक खेल उसको कहते हैं जिससे किसी प्रकार का क्षोभ न हो, जिससे शरीर और बुद्धि की बराबर सम्वृद्धि हो, जिससे शारीरिक स्फूर्ति के साथ कल्पना शक्ति और सहृदयता का भी आविर्भाव हो ; जैसे छोटे छोटे कृत्रिम भवन बनाना, पुल बांधना, बावरी खोदाना, पुष्प वाटिका लगाना, चित्र खींचना, पार्थिव मूर्ति बनाना, पाठशाला खोलना, सेना सञ्चालन करना, व्यूह रचना, वनविहार करना इत्यादि इत्यादि ।

राजसिक खेल उसको कहते हैं जिससे चित्त में संक्षोभ उत्पन्न हो, राग द्वेष के संस्कार पड़ें और जिससे सदा तृष्णा का प्राबल्य रहै । शारीरिक बल के अतिरिक्त जिसमें बुद्धि सम्बन्धी कुछ लाभ न हो यथा बाजी लगाकर दौड़ना, कूदना, गेंद खेलना, हौकी, फुटबौल इत्यादि ।

तामसिक खेल उसको कहते हैं जिससे कालक्षेप और

मनो-विनोद के अतिरिक्त कुछ मानसिक और शारीरिक लाभ न हो यथा तास, गंजीफा, चौसर इत्यादि ।

छः वर्ष तक बालक जैसी क्रीड़ा करै उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये क्योंकि इस बीच प्रकृति देवी उसकी अगुवानी आप किया करती हैं, वह अपने आप उसको अभीष्ट शिक्षा देती रहती है। अपरंच इस अवस्था तक बालक की प्रकृति सत्वमयी होती है। अतः उसकी क्रीड़ा भी सत्व प्रधान होती है। इस अवस्था में केवल इतनी खबरदारी रखनी चाहिये कि बालक राजसिक और तामसिक संसर्गों से बचा रहे।

जब बालक में राग, द्वेष, तृष्णा, संग, का आविर्भाव होने लगता है तब बालक के सामने ऐसे सामान रख देने चाहिये, ऐसी सामग्री ला देनी चाहिये, ऐसा अनुसंग उपस्थित कर देना चाहिये, ऐसी रुचि उत्पन्न कर देनी चाहिये कि वह स्वयं सात्विक कीड़ा की ओर प्रवृत्त हो यदि वह स्वयं इस ओर प्रवृत्त न हो तो, ऐसे उपाय काम में लाने चाहिये जिससे वह इस ओर प्रवृत्त हो जाय । स्मरण रहै कि उपदेश बालकों के चित्त में समा नहीं सकता है और भर्त्सना से बालक निस्तेज और स्थूल बुद्धि हो जाते हैं, अपरंच वे गुरुजनों से अलग रहने की चेष्टा करते हैं। जिसके समान अनर्थकारी और कोई बात नहीं है। अतः बालक को किसी ओर प्रवृत्त करने के लिये उपदेश और भर्त्सना का अवलम्बन नहीं होना चाहिये।

यदि बालक की प्रवृत्ति राजसिक खेलों की ओर हो तो दशवें वर्ष तक उसको ये खेल करने देने चाहिये। किन्तु इस बात की सावधानी रहै कि उसका साहचर्य्य एक तो उन बालकों से न हो कि जिनके गुरुजन यह चाहते हैं कि हमारे

बालक अपने साथियों में नवाबज़ादे समझे जायं, और दूसरा उनसे कि जो अपने साथियों से यांचा करने में सङ्कोच न किया करें, जो स्वार्थ परायण हों, जो जिह्वालोलुप हों, जो कुसंस्कारों में पले हों। यदि इन दो प्रकार के बालकों के अतिरिक्त और अच्छे सहचर न मिलें तो बालक को ऐसे खेलों की ओर प्रवृत्त कर देना चाहिये कि जिन में सहचरों की आवश्यकता न हो।

दशवें वर्ष के उपरान्त राजसिक खेलों के समय का सङ्कोच करते आना चाहिये। इसमें यह कहा जा सकता है कि यूरप के सभ्य देशों में तो प्रायः दशवें वर्ष से राजसिक खेलों का आरम्भ होता है और प्रायः वृद्धावस्था तक वे खेले जाते हैं, इसके उत्तर में यह स्मरण रखना चाहिये कि जहां राजसिक खेलों का ऐसा प्रचार है वहां राग-द्वेष का भी वैसा ही प्रचार है।

तामसिक खेलों को कदापि बालक के सामने नहीं आने देना चाहिये। बिना कुसंगति के प्रभाव से बिना उसके साहचर्य्य के तामसिक खेल न तो सीखे जा सकते हैं और न खेले जा सकते हैं। अतः ऐसे खेलों से बचाने के लिये एक मात्र उपाय यह है कि बालक को कुसंगति से बचाना चाहिये, उपदेश और भर्त्सना से नहीं किन्तु चातुर्य्य से।

५--बुद्ध्युद्बोधन—प्रकृति ने आत्म-रक्षा के हेतु तिर्य्यग जाति को सहज ज्ञान और मनुष्य को बुद्धि दी है। मनुष्य जितना व्यापार करता है उस सब का हेतु बुद्धि है। जिस मनुष्य में जितनी कम बुद्धि होती है, उतना वह पशुओं से सादृश्य रखता है; मनुष्य और पशु में यही अन्तर है कि

एक चलता है तर्क के सहारे और दूसरा चलता है सहज ज्ञान के भरोसे, मनुष्य से तर्क शक्ति निकाल दी जाय तो उसमें और पशु में फिर कोई अन्तर नहीं रहता है; पशु के सदृश पेट पालने और दिन काटने के अतिरिक्त उसके लिये संसार में कोई काम नहीं रहता है। जिस मनुष्य में, जिस जाति में, परामर्श शक्ति नहीं वह मनुष्य वह जाति बिना दूसरे की भोग्य वस्तु हुवे रह नहीं सकते हैं, उनके लिये समस्त ज्ञान विज्ञान विशेष इतिहास पुराण निरर्थक हैं, उस मनुष्य, उस जाति के लिये शिक्षा पाना ठीक ऐसा है जैसा कि सर्कस के घोड़े और बन्दरों के लिये, इतिहास पुराण तो केवल उदाहरण और उपनय को सामने रख देते हैं उनसे अनुमान करना तो बुद्धि का ही काम है, इतिहास पुराण से केवल भूत और वर्तमान का ज्ञान होता है, उनसे भविष्य का अनुमान करना तो बुद्धि ही पर निर्भर है; अतः जिस मनुष्य में बुद्धि नहीं वह भविष्य का क्या अनुमान कर सकेगा।

अतः शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये बालककी बुद्धि तीव्र करने का, उसमें प्रभाशक्ति उत्पन्न करने का न कि वृथा बातों से स्मृति को ठूंस देने का, प्रभाशक्ति उत्पन्न होती है बाल्यावस्था से प्राकृतिक उपायों के द्वारा बुद्धि में पैन लाने से, न कि पुस्तकों की ढेरी को कण्ठस्थ करने से, ऐसे प्राकृतिक उपाय अनेक हो सकते हैं, देश काल और निमित्त के अनुसार जिनका प्रयोग होना चाहिये। किन्तु एक सरल उपाय यह है कि जब बालक का चौथा वर्ष आरम्भ होता है। तो उसको थोड़ी दूर घर से बाहर लेजाकर अपने साथ घुमाना चाहिये, विशेषतः ऐसे स्थानों में जहाँ देवालय, जलाशय, बावरी, सरोवर, पुष्पवाटिका इत्यादि मनोहर वस्तु होवें, इन स्थानों में बालक को पैदल घुमाना चाहिये, उसको आगे आगे चलाना चाहिये, आप उसके पीछे

पीछे चलना चाहिये, जहाँ वह ठहरे वहां आप भी ठहर जाना चाहिये, वहाँ विशेष विशेष दृष्टव्य वस्तु वर्णन करते हुये, दिखानी चाहियें, अच्छे अच्छे फूल उसको चिन कर ला देने चाहिये, लौटती बार उसको घर का मार्ग नहीं बतलाना चाहिये, उसको अपने आप रास्ता ढूंढ़ने देना चाहिये। जब वह अपने घर के मार्ग से सुपरिचित हो जाता है तो उसको कभी कभी ऐसे स्थान में ले जाना चाहिये जहां अनेक मार्ग मिलते हों, तब उसको घरको लौटने को कहना चाहिये, तदुपरान्त एक मार्ग से जाकर दूसरे मार्ग से लौटने को कहना चाहिये, मार्ग में मिलते हुए वृक्षों के, फूलों के, पशु पक्षी इत्यादि के नाम पूछने चाहियें, जिन्हें वह न जानता हो उनके नाम आप बता देना चाहिये, जब बालक कुछ सयाना हो जाता है तो उसको देखी हुई वस्तुओं का वर्णन करने को कहना चाहिये, और पूछना चाहिये, कि अमुक मूर्ति कैसी थी, अमुक जलाशय में क्या क्या पदार्थ थे, अमुक पुष्प का रंग कैसा था अमुक पक्षी क्या कर रहा था, अमुक पशु कहां से आया था और कहां को गया, अमुक मनुष्य जो मार्ग में मिला था क्या कर रहा था, उसके पास क्या था इत्यादि इत्यादि। जहां बालक चूक करै तो वहां उसको सम्हाल देना चाहिये।

इसके उपरान्त बालक को परिचित जीव जन्तु वृक्ष लता पुष्प इत्यादियों के चित्र दिखा कर पूछना चाहिये कि यह चित्र किसका है, ऐसी वस्तु कहां देखी। ऐसे अनेक चित्र उसको बार बार दिखाते रहना चाहिये। जब यह जान पड़े कि अब बालक की बुद्धि कुछ परिपक्व होने लगी तो उसको परिचित जीव जन्तुओं के सदृश अन्य जीव जन्तुओं के चित्र दिखाने चाहियें, जैसे भैंस के सदृश अर्नें भैंस का, बकरी के

सदृश घुरड़ नाम के मृग विशेष का, अर्वी के पत्ते के सदृश कमल के पत्तों का ।

तत्पश्चात् उस चित्रित जीव और तत्सदृश जन्तु में जो २ भेद हों वह पूछना चाहिये और यह देखना चाहिये कि बालक उस अन्तर को अपने आप बता सकता है या नहीं, यदि वह अपने आप उसको न बता सके तो आप बता देना चाहिये; इस ढङ्ग से कि उत्तर प्रश्न के सूरत में रक्खा जाय, यथा भैंस और अर्नें में मुख्य तीन अन्तर होते हैं। कोहान का, कमर का और बालों का, यदि इन अन्तरों को अपने आप न बता सकै तो उससे यह पूछना चाहिये कि इस चित्र में अर्नें के कंधे में क्या है? क्या भैंस का भी ऐसा होता है? इस चित्र में अर्नें की कमर कैसी है? क्या भैंस की भी ऐसी ही होती है? इत्यादि ।

तदनन्तर बालक को मनुष्य आदि प्राणियों के शारीरिक चेष्टा व्यंजक चित्र दिखाने चाहिये, जैसे दौड़ने कूदने, लड़ने आदि के और तब बालक से पूछना चाहिये कि इस चित्र में कौन क्या कर रहा है।

जब वह शारीरिक चेष्टा व्यंजक चित्रों को समझने लग जाय तब उसको बहिर्भाव मय चित्र दिखाने चाहिये, जैसे हंसने रोने इत्यादि के, तब बालक से पूछना चाहिये कि इस चित्र में कौन क्या कर रहा है।

इसके उपरान्त उसको अन्तर्भाव मय चित्र दिखाने चाहिये जैसे कोप आश्चर्य्य, लोभ, मोह इत्यादि के और फिर पूर्वत् उससे पूछना चाहिये कि इस चित्र में किस व्यक्ति के मुख में क्या भाव झलक रहा है।

यदि बालक इसका ठीक उत्तर दे सके तो फिर उससे उस उत्तर का हेतु पूछना चाहिये, यदि बालक उसका हेतु

न बता सकें तो स्वयं उसको यह बता देना चाहिये कि अमुक भाव में मनुष्य के मुख में अमुक विकार उत्पन्न होता है, जैसे हर्ष में गण्डशिराजाल का सिमट कर कुछ ऊपर और पीछे की ओर चला जाना, आँख और होंट का कुछ तिरछा फैल जाना और नीचे की पलक का कुछ विकाश हो जाना इत्यादि इत्यादि।

यथाशक्य चित्रपट ऐसे होने चाहिये कि जिसमें एक पट में अनेक भाव दिखलाये गये हों, जैसे रविवर्माकृत शिशुपालवध और धुरन्धरकृत द्रौपदीचीरहरण, क्योंकि ऐसे पटों में मनुष्य के मुख में भिन्न भिन्न प्रकार के मानसिक भावों से जो भिन्न भिन्न प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं, वे सब एक साथ दर्शाये जासकते हैं, तब इसके पश्चात् भिन्न भिन्न प्रकार के दृश्यों के चित्र दिखाकर वैसे ही प्रश्नोत्तर होने चाहिये, पहिले पहल सादे चित्रों की अपेक्षा रंगीन चित्र काम में लाने चाहिये क्योंकि ऐसे चित्रों में जल, वाष्प, मेघ, हिम इत्यादि के चित्र शीघ्र पहिचाने जा सकते हैं। जब बालक इन प्राकृतिक पदार्थों के रङ्गीन चित्रों को समझने लग जाय तब सादे चित्रों को काम में लाना चाहिये।

जब बालक कुछ सयाना हो जाता है तो उसको अपने साथ नगर के बाहर गिरि कानन आदि एकान्त स्थान में घूमने को ले जाना चाहिये, वहां उसको फूल, पत्ते, लता, गुल्म, पशु, पक्षी, बावरी, सरोवर, इत्यादि मनोहर दृश्य दिखाते हुये किसी वस्तु विशेष का विश्लेषात्मक वर्णन सुनाना चाहिये और फिर उससे वही वर्णन दुहरा कर कहलवाना चाहिये।

जब बालक में एक बार किसी वस्तु का वर्णन सुनकर उसको दुहराने की शक्ति आजाती है तो उससे फिर किसी वस्तु का विश्लेषात्मक वर्णन करवाना चाहिये।

यदि बालक ने एक जाति की दो विशेष वस्तु देखी हों तो उससे उनकी समता और विशेषता पूछनी चाहिये। उदाहरणार्थ उसको सेवती दिखाकर गुलाब का स्मरण करा के उनके पत्ते, कांटे और केसर की समता और पांखड़ियों की हार और गन्ध का भेद बताना चाहिये।

एवं जब बालक की समझ कुछ बढ़ जाती है तो उसको विश्लेषात्मक वर्णन द्वारा निरीक्षण और अन्वीक्षण का अभ्यास कराना चाहिये और जब यह मालूम हो जाय कि बालक में निरीक्षण और अन्वीक्षण शक्तियां आगई हैं तो फिर उसको एक वर्ग के अनेक फूल दिखाकर यह पूछना चाहिये कि इस वर्ग के फूलों में किस रंग का अभाव और किस रंग का प्राचुर्य्य है, अनेक रंग के गुलाब के फूल अलग अलग सुँघा कर, तब उसकी आंखें बन्द करके गंध मात्र से रंग को बताने को कहना चाहिये। गुलदावरी के पौधे के रंग से फूल के रंग का अनुमान करना सिखाना चाहिये। तदुपरान्त उसको एक बात से दूसरी बात का अनुमान करना सिखाना चाहिये, यथा किसी स्थान में धुँवे के उठने से वहां अग्नि का अनुमान करना।

इस प्रकार जब बालक की बुद्धि में कुछ कुछ पैन आजाती है तो उसको लोम विलोम रीति से कार्य्य और कारण के सम्बन्ध में ध्यान देना सिखाना चाहियें, कि किन कारणों से कैसे कार्य्य और किस कार्य्य के अग्रगामी कौन कारण होते हैं; किस परिणाम के पूर्व क्या लक्षण और किन लक्षणों के पश्चात् क्या परिणाम होते हैं। यथा भिन्न भिन्न प्रदेशों में उष्णता का भिन्न भिन्न परिमाण होने से वायु का संचार होना और वायु के संचार होने से उष्णता का परिमाण भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न होना।

एवं जब बालक में लिङ्ग परामर्श द्वारा अनुमान करने की शक्ति आजाती है तो कभी कभी उससे ऐसी बात पूछनी चाहिये कि जिसके उत्तर में उसको कुछ अनुमान करना पड़े। ज्योंही वह किसी बात का अनुमान करता है तो झट उससे उस अनुमान का कारण पूछना चाहिये, जब वह उसको बता सके तो फिर उससे उसका उदाहरण पूछना चाहिये। तद-नन्तर यह देखना चाहिये कि बालक का उपनय ठीक है या नहीं, उदाहरणार्थ किसी पर्वत में धुवां उठता देखकर बालक से यह पूछना चाहिये कि उस पर्वत में क्या होरहा है? यदि बालक यह कहै कि उस पर्वत में कहीं आग लगी हुई है, तो फिर उससे पूछना चाहिये कि क्यों। यदि बालक यह उत्तर देवे कि धुवाँ उठने से यह अनुमान होता है, तो उससे इस बात का उदाहरण पूछना चाहिये कि जहां धुवाँ होता है वहाँ आग होती है। जब बालक इसका उदाहरण दे देवे तो फिर उससे यह निश्चय करा लेना चाहिये कि पर्वत में धुवाँ है या कुहिरा इत्यादि।

सारांश यह है कि इस प्रकार बालक की तर्क शक्ति को बढ़ाते रहना चाहिये॥

६--शीलोत्पादन—हमारी प्राचीन प्रथा के अनुसार शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य था शीलोत्पादन, वास्तव में शील एक ऐसा पदार्थ है कि जो अभ्युदय काल का भूषण, विपद्काल की नौका, सुख रूपी भौंरे के लिये पंकज और दुःख रूपी बर्रे के लिये चम्पा है और जो संसार रूपी रंग भूमि में अपना पाठ अच्छी तरह खेलने का मुख्य उपाय है। इस विषय में प्रायः सभी जातियों के लेखकों ने कुछ न कुछ लिखा है और अब भी लिखते जारहे हैं; किन्तु इन लेखों से शील की

विभूति का बाह्य ज्ञान मात्र होता है, शील में उनका प्रभाव बहुत कम होता है, शील ज्यों का त्यों रह जाता है। यदि पुस्तकों के पढ़ने से, लेखों के देखने से, व्याख्यान सुनने से मनुष्य में शील उत्पन्न हो जाता तो आज यूरप से न्यायालय कभी उठ गये होते, हमारे भारत की काया पल्टे बहुत दिन होगये होते। भय्या ! पोथी के बैङ्गन और खाने के बैङ्गन न्यारे न्यारे होते हैं, केवल उपदेश से किसी को शील प्राप्त नहीं हो सकता है, यह प्राप्त होता है रजो हनन से। जब तक मनुष्य में रजस् वर्तमान रहता है, तब तक उसमें तृष्णा और सङ्ग वर्तमान रहते हैं, जब तक मनुष्य में तृष्णा और संग रहते हैं तब तक वह राग और द्वेष के वश में रहता है, जब तक वह राग द्वेष के वश में रहता है तब तक उसके चित्त में भोग विलास की लालसा और दुःख दारिद्य का त्रास बना रहता है, तब तक मानापमान से उसका चित्त डामाडोल होता रहता है, तब तक वह जनरव और जन श्रुति के झोकों में उड़ता रहता है, तब तक वह मिथ्या निन्दा स्तुति के तरंगों में नाचता रहता है, जब तक मनुष्य सुख दुःख, मानापमान, निन्दास्तुति, उद्यावपात में समदृष्टि नहीं होता है तब तक उसमें स्वार्थ वर्तमान रहता है, जब तक उसमें स्वार्थ रहता है, तब तक उसकी बुद्धि और धृति सात्विकी हो नहीं सकती है, बिना ऐसी बुद्धि और धृति के किसी में यथार्थ शील उत्पन्न हो नहीं सक्ता है। अतः बालक में यथार्थ शील उत्पन्न करने के लिये बाल्यावस्था से ही उसकी प्रकृति को रागात्मक नहीं होने देना चाहिये। इसी को रजो हनन कहते हैं।

रजो हनन का सब से अच्छा उपाय यह है कि रजस् का अंकुरावस्था में ही ऊर्ध्व प्रवृत्तिक आधारान्तरी करण कर देना

चाहिये और बाल्यावस्था से ही दृढ़ीकरण द्वारा चित्त को तितिक्षाशील बना देना चाहिये।

चित्त को एक विषय से हटा कर दूसरे विषय में उसको लगा देने को आधारान्तरी करण कहते हैं; यथा जिस चित्त में धन की तृष्णा बनी हुई है उसमें मान की तृष्णा उत्पन्न कर देना, इसी को आधारान्तरी करण कहते हैं।

जिस आधारान्तरी करण में पूर्व आधार अथवा विषय की अपेक्षा उत्तर आधार अथवा विषय में सत्व अधिक होता है उसको ऊर्ध्व प्रवृत्तिक आधारान्तरी करण कहते हैं; यथा धन से चित्त को हटा कर उसको यश में लगा देना, इसको ऊर्ध्व प्रवृत्तिक आधारान्तरी करण कहते हैं, क्योंकि धनसम्बन्धी तृष्णा की अपेक्षा यशसम्बन्धी तृष्णा में अधिक सत्व वर्तमान रहता है।

रजस् मनुष्य में दो रूप में वर्तमान रहता है एक राग के और दूसरा द्वेष के।

चित्त का सुख के पीछे दौड़ने को राग कहते हैं।

चित्त का दुःख से पीछे हटने को द्वेष कहते हैं।

राग के कारण मनुष्य के चित्त की ऐसी प्रवृत्ति हो जाती है कि वह किसी विषय विशेष को, जिसमें वह सुख समझता है, अपना आधार बना लेता है और बारबार उसही का ध्यान करने लगता है, जिस विषय को चित्त अपना आधार बना लेता है उस विषय में उसका राग हो जाता है, जिस विषय में मनुष्य का राग होता है उस विषय में उसका स्वार्थ हो जाता है। अतएव भिन्न भिन्न अवस्था में भिन्न भिन्न प्रकार की सुखानुशयिता के अनुसार मनुष्य का भिन्न २ विषयों में स्वार्थ होता है, कभी भोजन में, कभी धन में और कभी मान इत्यादि में।

द्वेष के कारण चित्त की ऐसी प्रवृत्ति हो जाती है कि वह किसी विषय विशेष में दुःख समझ कर सदा उससे भागना चाहता है, जिस विषय से वह भागना चाहता है उसमें उसका द्वेष हो जाता है। अपरंच जिस विषय में मनुष्य का द्वेष होता है उस विषय के प्रत्यर्थी विषय में उसका राग हो जाता है। यथा शारीरिक कष्टों से डरे हुवे मनुष्य का भोग विलास में और दारिद्र्य से डरे हुवे का धन में राग हो जाता है।

आधारान्तरी करण से राग के आधारों का सरासर संक्रमण होता जाता है, जिससे चित्त में किसी विषय के दृढ़ संस्कार पड़ने नहीं पाते हैं, चित्त का विषयों के पीछे ध्यान लगा कर दौड़ने का अभ्यास कम हो जाता है, इस कारण उसका विषयों में सङ्ग भी कम होता है, सङ्ग के कम हो जाने से तदनुसार मनुष्य में स्वार्थ बुद्धि कम हो जाती है, स्वार्थ बुद्धि के कम हो जाने से चित्त की रागात्मक प्रवृत्ति कम हो जाती है। अतः ऊर्ध्व प्रवृतिक आधारान्तरी करण से बुद्धि उतरोत्तर सात्विकी होती जाती है।

आधारान्तरी करण में इन दो मुख्य बातों का ध्यान रखना चाहिये कि:—

(१) चित्त की रागात्मकप्रवृत्ति होने से पहिले आधारान्तरीकरण विधि का प्रयोग होना चाहिये; रागात्मकसंस्कारों के दृढ़हो जाने पर यह कार्य्य कठिन हो जाता है।

(२) आधारान्तरीकरण अरुन्धतीदर्शनन्याय से होना चाहिये; अर्थात् पूर्व आधार के स्थान में जिस उत्तर आधार का आदेश किया जाय वह पूर्व आधार से कुछ बातों में मिलता हो, किन्तु उसमें पूर्व आधार की अपेक्षा

उत्तर आधार में सत्व अधिक हो ; यथा वस्त्रादि से अपने शरीर को सजाने की इच्छा के स्थान में अपने घर को पुष्पादि से सजाने की इच्छा होना, इसही को अरुन्धती न्याय कहते हैं क्योंकि दोनों में भाव समान हैं अर्थात् दोनों में सजावट की इच्छा वर्तमान है, किन्तु पूर्व इच्छा की अपेक्षा उत्तर इच्छा अधिकतर सात्विकी है ।

बाल्यावस्था में मनुष्य का राग केवल भोजन और क्रीड़ा में होता है, इन दो विषयों के अतिरिक्त उसकी बुद्धि में और कोई बात समाई हुई नहीं रहती है । अतः छटे वर्ष से बालक के चित्त से भोजन सम्बन्धी राग को हटा कर उसके स्थान में क्रीड़ा सम्बन्धी राग का आदेश कर देना चाहिये । यह होता है बालक के सामने वैसे सामान, वैसे निमित्त उपस्थित करने से, नकि उपदेश करने से, जब वह एक प्रकार के क्रीड़ा रस में मग्न होने लगता है तो उस क्रीड़ा रस के स्थान में दूसरे प्रकार के क्रीड़ा रस का आदेश कर देना चाहिये जिसमें सत्व अधिक हो ।

जब बालक कुछ सयाना होता है तो बहुधा उसको अच्छी पोशाक का शौक होने लगता है, उसके इस शौक को अपने शरीर को व्यायाम से सुडौल बनाने और अपने घर को फूल बाड़ी से सजाने के शौक में बदल देना चाहिये ।

एवं सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि बालक के चित्त में किस वस्तु का राग होरहा है, तदनुसार अरुन्धती दर्शन न्याय से आधारान्तरी करण करते रहना चाहिये ।

इस विधि से रागात्मक संस्कार शिथिलाधार हो जाते हैं, जिससे अनायास व क्षीण किये जा सकते हैं । रागात्मक सं-

स्कारों को क्षीण करने का उपाय है ऊर्ध्व प्रवृत्तिक आधारान्तरी करण।

द्वेषात्मक संस्कारों को क्षीण करने का उपाय है दृढ़ीकरण क्योंकि इससे चित्त में तितिक्षा आजाती है, तितिक्षा से द्वेषात्मक प्रवृति कम होजाती है, द्वेषात्मक प्रवृति के कम हो जाने से मनुष्य में सात्विकी धृति आजाती है।

चित्त जिस विषय से भागता हो, पुचकार कर उसको उस विषय के समीप लेजाकर, उस विषय का अनुभव करा के वारम्बार अनुशीलन द्वारा उसको सहिष्णु बना देने को दृढ़ी करण कहते हैं।

इसकी विधि यह है कि बालक को छठे वर्ष से इस ढङ्ग से रखना चाहिये कि कभी तो उसको दिव्य भोजन मिले और कभी बिलकुल रूखा सूखा अन्न, कभी अच्छी पोशाक से उसके खूब ठाठ बाठ बना देने चाहिये और कभी उसको बिलकुल फटे पुराने वस्त्र पहना कर रखना चाहिये, कभी उसको लल्ला बना कर रखना चाहिये और कभी उससे कुली और चाकर का काम लेना चाहिये, कभी उसको मोजा जूता पहना कर आराम से उपवनों में टहलवाना चाहिये, कभी सवारी में हवा खोरी करवानी चहिये और कभी शीत ग्रीष्म, चढ़ाई, मैदान, कङ्कर मिट्टी की उपेक्षा करके उसको नङ्गे पैरों पैदल चलाना चाहिये, छोटी २ नदियों में तैराना चाहिये, घर में उसको कभी तो खूब समृद्धि दिखाई पड़े और कभी उसके विपरीत; अवसर मिले उसको यह अवश्यमेव दिखा देना चाहिये कि जिन लोगों के रोब का कहीं ठिकाना नहीं रहता है कभी मारे डर के उनके भी होश उड़े रहते हैं, अदालतों में ले जाकर उसको यह दिखाना चाहिये कि मुश्तगीस से चपरासी जी

किस रोब से पेश आते हैं, चपरासी जी शरिस्तेदार साहब से कैसे डरते हैं, शरिस्तेदार साहब डिप्टी साहब के सामने कसी मुद्राधरलेते हैं और डिप्टी साहब की दशा कलक्टर साहब के सामने कैसी हो जाती, एवं कृत्रिम रोब की निस्सारता उसको दिखाते रहना चाहिये। कभी उसको शक्ति शाली लोगों से मिलाना चाहिये और कभी बिचारे गरीबों से किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि वे शक्ति शाली लोग चिड़चिड़े, बदमिजाज और अभिमानी न हों और वे ग़रीब लोग भी यांचाशील, नीच वृत्ति, विषण्णवदन, दुःखों का पचड़ा गाने वाले न हों, अपरंच उन दोनों प्रकार के लोगों से बालक का सम्पर्क समभाव से हो, न तो वह उन शक्तिशाली लोगों से अपने को छोटा समझे और न उन ग़रीब लोगों से अपने को बड़ा समझे।

इस विधि से बालक तितिक्षाशील, निर्भय और मद रहित हो जाता है।

एवं ऊर्ध्व प्रवृत्तिक आधारान्तरीकरण और दृढ़ीकरण द्वारा बालक के रागात्मक और द्वेषात्मक संस्कार क्षीण होजाते हैं, किन्तु सुख दुःख मानापमान निन्दास्तुति और उदयावपात में समदृष्टि होने के लिये, वुद्धि और धृति को सात्विकीरखने के लिये, अर्थात् यथार्थ शील का आवाहन करने और उसकी रक्षा करने के लिये, इतना ही पर्य्याप्त नहीं; इसके अतिरिक्त मनुष्य को यह भी धैर्य्य हो जाना चाहिये कि मेरे लिये अन्न का घाटा नहीं रहेगा, मेरा परिवार अन्न विना नहीं बिलखायेगा। बिना अपने में ऐसा भरोसा हुए किसी की धृति पूर्णतया सात्विकी रह नहीं सकती, बिना सात्विकी धृति के रजो हनन क्रिया का ठीक २ निर्वाह हो नहीं सकता, क्योंकि राग द्वेष का ह्रास हो सकता है, मन मारे मर सकता है, इन्द्रियां उपाय विशेष से

दब सकती हैं। किन्तु भय्या ! पापी पेट बिना आहुति लिये चैन नहीं होने देता है, बिना जीवन यात्रा से निश्चिन्त हुए कोई काम ठीक ठीक हो नहीं सक्ता । जो भगवती प्रकृति समस्त भूतों में क्षुधा रूप से विराज रही है उसकी अवज्ञा हो कैसे सकती है ? अतः शील की रक्षा के लिये यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि बालकों को ऐसा धैर्य्य हो जाना चाहिये कि चाहे कुछ ही हो, चाहे कहीं जाऊं, माई अन्नपूर्णा मुझको नहीं भूलेगी, मुझको पेट के लिये दूसरों के मुख ताकना नहीं पड़ेगा, येन केन जीवन यात्रा चलही जायगी ।

किन्तु यह स्मरण रहै ऐसा धैर्य्य होना है न अपने पास प्रचुर सम्पति को देखने से और न अपने को नौकरी के लायक हुआ जानकर, क्योंकि भगवती चंचला का क्या भरोसा, चंचल नाम ही उसके गुणों को कहे देता है, जिन लोगों के घोड़ों को दूध जलेबी मिला करती थी कालान्तर में वेही मुट्ठी भर अन्न के लिये बिलखते हुए देखे गये, जिन लोगों का हाथ सदा ऊपर रहा करता था दशान्तर से उनका हाथ नीचे आन पड़ा । लक्ष्मी का तो भरोसा यों नहीं और नौकरी का भी कुछ भरोसा नहीं, कौन जाने नौकरी मिले या नहीं, यदि मिल भी जाय तौ कौन कह सकता है कि पिया कभी नहीं रूठेंगे। न सुहाग कभी छिनेगा । प्राण-यात्रा का सर्वोत्तम उपाय है कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और शिल्प-कला । इनसे अपनी आजीविका अपने हाथ में रहती है, अपने में भरोसा रहता है । अतः बालक को कृषि, गोरक्षा और एक दो सर्वोपयोगी शिल्पकला की व्यवहारिक शिक्षा दे देनी चाहिये, शिक्षा ही नहीं किन्तु प्रत्यक्षानुभव कराके उसको यह निश्चय करा देना चाहिये कि भगवती विश्वम्भरा और गोमाता की सेवा करने से कभी किसी को अन्न की त्रुटि

नहीं रहती है। इतनाही नहीं वरन उसको गोरक्षा का रसज्ञ बना देना चाहिये। क्योंकि गो सेवा से मनुष्य न केवल स्वाधीन वृत्ति और जीवन यात्रा से निश्चिन्त होता है किन्तु बिना गो की सहायता के माई अन्नपूर्णा भी दुराराध्या हो जाती है। अपरंच गोसेवा से मनुष्य में एक प्रकार का ऐसा आनन्द ऐसी निश्चिन्तता, ऐसी शान्ति, ऐसा आर्जव आजाता है कि जिसका ठीक ठीक ज्ञान अनुभव से ही हो सकता है न कि वर्णन से।

जिनको हमारे शास्त्रों में हमारे ऋषियों में श्रद्धा है, उनके वचनों को प्रमाण माने हुए हैं, उनको यह विचारना चाहिये कि क्योंकर उन्होंने गोसेवा को ऐसा महत्व दिया है, क्योंकर युधिष्ठिर के इस उत्तर से, कि प्रतिष्ठमानो को गोसेवा उत्तम है, यक्ष सन्तुष्ट हो गया; क्योंकर हमारे सब से बड़े अवतार सब से बड़े योगी, सब से बड़े ज्ञानी, सब से बड़े महारथी, सब से बड़े त्यागी, सब से बड़े नीतिज्ञ और सब से बड़े शास्त्रा ने गोकुल में गायें चराईं?

जिनको हमारे शास्त्रों और हमारे ऋषियों की परवाह नहीं, उनको इस बात में ध्यान देना चाहिये कि हमारे सब महापुरुष, जिन्होंने भारत के डूबते हुवे बेड़े को पार लगाया उसका मुख उज्ज्वल किया, उसकी कीर्ति फैलाई, असम्भव को सम्भव कर दिखाया, वे सब गोसेवा के रसिक थे।

जो उसको भी काकताली समझे उन्हें ग्वालों का न्यायालय और दफ़्तर के लटकानों से मिलान कर देखना चाहिये कि इन दोनों में से कौन अधिक सुखी, कौन अधिक निश्चिन्त, कौन अधिक शान्त और कौन अधिक सरल है।

स्वच्छन्द रूप से बन में उत्पन्न होने वाली घास से जो सन्तुष्ट होकर अपने रक्षक के लिये शतधा और सहस्रधा

फलदा होती है, जिसका मल सूत्र भी ऐसा उपकारी होता है। जिसकी सेवा में ऐसे सत्वोत्पादक गुण हैं, क्या कारण है कि बालक उसकी सेवा से वंचित किये जायं।

यह स्मरण रहे कि जब मनुष्य को अन्न की चिन्ता नहीं रहती है, भोग विलास की इच्छा उसके चित्त से हटती जाती है, रजो गुण का ह्रास होने लगता है तो मनुष्य में तमोगुण आ जाने, उसके निरीह और पौरुष हीन हो जाने का भय रहता है; क्योंकि बिना अधः प्रवृत्तिक रजोगुण को ऊर्ध्व प्रवृत्तिक रजोगुण में परिवर्तन किये केवल त्याग का अभ्यास करने से सत्वसंशुद्धि नहीं होती है वरन अधिक तमोगुण आजाता है। अतः सत्व संशुद्धि के लिये त्याग के साथ पराक्रम और विवेक का संयोग होना अत्यन्त आवश्यक है; बिना इनका संयोग हुये त्याग से अपकार होता है न कि उपकार इस ही लिये तो भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में पौरुष रहित त्याग की निन्दा की, जिस अर्जुन के मुख से अधोलिखित प्रज्ञावाद के शब्द निकलते थे कि :—

'न कांक्षे विजयं कृष्ण नच राज्यं सुखानिच।'
'किंनो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥'
'एतान्न हन्तु मिच्छामि घ्नतोपि मधुसूदन।'
'अपि त्रैलोक्य राजस्य हेतोः किन्तु मही कृते॥'
'अहोयत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।'
'यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजन मुद्यताः॥'

उस अर्जुन को श्री भगवान यह उत्तर देते हैं कि:—

'कुतस्त्वा कश्मल मिदं विषमे समुपस्थितम्।'
'अनार्यजुष्ट मस्वर्ग्य मकीर्ति कर मर्जुन॥'
'क्लैब्यं मास्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यत।'
'क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्तोत्तिष्ट परंतप॥'

अतः तमोगुण न आने देने के लिये और सत्वविकाश होने

के लिये पूर्वोक्त रजो हनन की विधि के साथ साथ बालक की अभिरुचि ऐसे कामों की ओर करा देना चाहिये कि जिनमें त्याग, पराक्रम और विवेक की बराबर आवश्यकता पड़े। उसके मन में संसार रूपी नदी के बीच सुख दुःख रूपी भौंरों में पराक्रम और विवेक की तरन्यों को लेकर तैरने का शौक पैदा कर देना चाहिये, वीर पुरुषों को उसका आदर्श बना देना चाहिये, बिना ऐसा हुवे मनुष्य में यथार्थ शील आ नहीं सकता, जैसे बिना घनों की मार सहे लोहा फौलाद नहीं हो सकता, बिना सान में घिसे हीरे में पानी नहीं आ सकता।

परन्तु भीरुता एक ऐसा पदार्थ है कि जो मनुष्य के पराक्रम और विवेक के पथ में बार बार विघ्न रूप होकर खड़ी हो जाती है अतः इससे मनुष्य के शील रक्षा में भी बाधा पड़ती है।

भय दो प्रकार का होता है:—(१) अर्थ सम्बन्धी और (२) शरीर सम्बन्धी।

मनुष्य को अपनी ममता सम्बन्धी विषय के नाश होने की शङ्का से जो मानसिक दुःख होता है उसको अर्थ सम्बन्धी भय कहते हैं, किसी की ममता धन में, किसी की नौकरी में, किसी की अधिकार में, किसी की मान इत्यादि में होती है, इनके नाश होने की शङ्का से मनुष्य को जो मानसिक दुःख होता है उसी को अर्थ सम्बन्धी भय कहते हैं। अर्थ सम्बन्धी भय से मनुष्य में काम क्रोध लोभ मोह, मत्सर आदि आसुरी भावों की उत्पत्ति होती है, जो शील के महापरिपन्थी हैं।

अर्थ सम्बन्धी भय को हटाने का उपाय यह है कि पूर्वोक्त रजो हनन विधि से अथवा और किसी उपाय से शैशवावस्था से बालक के चित्त में सुख, दुःख मानापमान, निन्दास्तुति की ओर उदासीनता कर देनी चाहिये।

मनुष्य को अपने शरीर में कष्ट आने की आशंका से जो मानसिक दुःख होता है उसको शरीर सम्बन्धी भय कहते हैं, शरीर सम्बन्धी भय से मनुष्य में कापुरुषता, क्लैव्य, क्रौर्य्य, चातुत्व और सङ्कल्प शैथिल्य आदि पैशाची भावों की उत्पत्ति होती है, जिनके कारण मनुष्य में शील का ह्रास होता है।

शरीर सम्बन्धी भय को दूर करने का उपाय यह है कि शरीर स्वस्थ और चित्त प्रसन्न रखा जाय, शरीर की ममता कम किई जाय, अवसर आने पर लड़ बैठने का साहस हो, और कुछ शस्त्र विद्या सीखी हुवी हो, अल्पावस्था से आयुधों को पास रखने, उनकी शिक्षा मिलने से मनुष्य के चित्त में कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह स्वयं कुछ कुछ निर्भय हो जाता है और उसको अपने में भरोसा हो जाता है, किन्तु शस्त्र विद्या की शिक्षा तो हम लोग दे नहीं सकते हैं तथापि बालक के चित्त में कभी, किसी प्रकार के भीरुता के संस्कार नहीं पड़ने देने चाहिये कभी उसको "हाऊ" आदि शब्दों से डराना नहीं चाहिये, जिस वस्तु से जिस, स्थान से वह डरता हो पुचकार कर उसको बार बार उस वस्तु के समीप उस स्थान में ले जाकर उसके चित्त से भय के संस्कारों को निकाल देना चाहिये॥

७-आदर्श जनन—यह सिद्ध है कि जैसा मनुष्य का आदर्श होता है वैसा वह आप भी होता है। कोटि उपदेश, कोटि उपाय, कोटि शिक्षा एक ओर, और चित्त में गढ़ा हुवा आदर्श दूसरी ओर। मनुष्य को उसके हृदय में समाये हुवे आदर्श के प्रतिकूल लेजाना असम्भव है। अतः प्रयत्न इस बात का होना चाहिये कि बालक के चित्त में कोई स्वजातीय महा पुरुष आदर्श रूप होकर विराजमान रहे।

सातवें वर्ष से बालक का चित्तरूपी आलेख्य पट तय्यार होने लग जाता है, तब से उसके सामने जिस जिस को बड़ाई किई जाती है, जिस जिस की महिमा गाई जाती है; उस उसकी छाया उसके हृदय पट में पड़ती जाती है, यही छाया कालान्तर में आदर्श में परिणत हो जाती है, जैसा मनुष्य का आदर्श होता है वैसा वह आप होना चाहता है और जैसा वह होना चाहता है वैसा वह हो भी जाता है। अतः बाल्यावस्था सेही बालक के सामने दैवीसम्पद्वाले स्वजातीय वीरों की योद्धाओं की, देश भक्तों की, कवियों की, लेखकों की, शास्त्राचार्य्यों की कला कौशल विशारदोंके सुन्दर रंगीन चित्र दिखाने चाहिये; क्योंकि छोटे बालकों केचित्त में प्रवेश करने के लिये कर्ण द्वार ऐसे अच्छे मार्ग नहीं हैं जैसे कि नेत्र, किसी की महिमा सुनकर उनके चित्त में ऐसा अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता है जैसा कि उसका सौन्दर्य्य देखकर, जो वस्तु उनके दृष्टि में सुन्दर जंचती है वैसा ही वह आप भी होना चाहता है। अनेक बालक सुन्दर पक्षी या तितली बनना चाहते हुवे देखे गये हैं, कई बालक शन्त जाति के मुर्दों की सुन्दर शिविका देखकर यह कहते हुवे सुने गये हैं कि मैं भी अपने लिये ऐसी शिविका बनाऊंगा। छोटे बच्चों की दृष्टि में सादी पोशाक पहने हुवे राजा महाराजा ऐसे बड़े नहीं जंचते हैं कि जैसे उनके रक्षक जो भड़कीली लिबास पहने हुवे रहते हैं। इसी से यह अनुमान होता है कि बालकों के चित्त में प्रवेश करने के लिये सबसे अच्छे मार्ग हैं नेत्र, अतएव चित्रों का रङ्गीन और सुन्दर होना अत्यावश्यक जान पड़ता है क्योंकि सादे एक रङ्गे चित्रों का बालकों के हृदय में उतना प्रभाव नहीं पड़ता हैं कि जितना कि रङ्गीन चित्रों का और कुरूप चित्रों से बालकों के

हृदय में चित्रित व्यक्ति के लिये श्रद्धा और सम्भावना हो जाती है, चाहे वह व्यक्ति कैसा ही आदर्श रूप क्यों न हो। इस बात का भी ध्यान रहै कि चित्रों में उक्त आदर्श महापुरुष ऐसे लिवास में दर्शाये जाने चाहिये कि जो वालकों को अच्छी जचें। जब बालक कुछ सयाना होजाता है और उसके चित्त में कर्ण-द्वार से भी प्रवेश होने लग जाता है तब उसको उक्त महापुरुषों की महिमा सुनानी चाहिये, उसके कानों में सदा ऐसी वातें पड़नी चाहिये कि जिससे उसके हृदय में दैवी सम्पद् के संस्कार पड़ें, ऐसी सम्पद् वाले महापुरुषों को वह अपना आदर्श वना लेवे। भूल कर भी उसके सामने किसी आसुरी, राक्षसी और पैशाची सम्पद् वाले मनुष्य की बड़ाई नहीं करनी चाहिये, चाहे वह कैसा ही धनवान और प्रभावशाली क्यों न हो।

इस बात का भी ध्यान रहै कि बालक का साहचर्य्य आसुरी आदि नीचसंस्कार वाले, धन के मद में भरे हुये, अपना महत्व जमाना चाहने वाले बालकों से नहीं होने देना चाहिये, क्योंकि ऐसी सङ्गति से बालक अल्पावस्था से ही निस्तेज हो जाता है, निस्तेज मनुष्य में दैवी सम्पद् का उदय और सम्वर्धन हो नहीं सक्ता। अतएव हमारे भारत के महा महिमा के दिनों में बड़े बड़े राजा महाराजाओं के कुंवर शिक्षा पाने के लिये तपोवन में ऋषि मुनियों की सेवा में भेज दिये जाते थे।

आदर्श जनन में बड़ी सावधानी होनी चाहिये, किन्तु वर्तमान स्कूल और कालेजों में यह सावधानी हो नहीं सक्ती है; क्योंकि एक तो एक मास्टर या प्रोफेसर का इतने बालकों की ठीक ठीक देखा भाली कर सकना नितान्त असम्भव और

दूसरा सेवा वृत्ति वालों का आदर्श बड़ा हो नहीं सकता। अतः जब तक बालक अपने साथ न रखा जाय अथवा किसी योग्य गुरु जी को न सौंप दिया जाय तब तक उसका आदर्श बड़ा हो नहीं सकता है।

हां यह दूसरी बात है कि उसके जन्मान्तर के सुसंस्कार हाथ पकड़ कर उसको ठीक मार्ग में रख देवें; किन्तु उनके भरोसे रहना निरी मूर्खता है।

८—औदार्य्य शिक्षा—मानुष जीवन से औदार्य्यरूपी एक मार्ग देवत्व को और स्वार्थ रूपी दूसरा मार्ग पिशाचत्व को गया है। स्वार्थ रूपी मार्ग बहुत सरल है और औदार्य्य रूपी मार्ग कुछ विकट है, बिना पूर्व अभ्यास के इस दूसरे मार्ग में चलना कठिन कार्य्य है। वैसे तो राजसी और तामसी उदारता बहुत हुवा करती हैं किन्तु सात्विक उदारता के लिये चित्त में सत् संस्कार अवश्यमेव वर्तमान रहने चाहियें। अतः बालक के चित्त में ऐसे संस्कार उत्पन्न करने के लिये बालक को शैशवावस्था से ही दान के कार्य्यों में लगाना चाहिये, जैसे कि पक्षियों को चारा देने में, टुकड़े की ढूंढ़ में आये हुवे कुत्ते को टुकड़ा देने में, भिखारी को भीख देने में, दीन दुबलों की सहायता करने में, घर में आये हुवे अतिथि अभ्यागत का सत्कार करने में, वास्तविक योगी ब्राह्मणों की सेवा सुश्रूषा में। अपने घर में आइ हुई कोई वस्तु यदि पड़ोस में बटवानी हो तो बालक को ही इस काम में लगाना चाहिये। यदि कोई बालक अथवा अन्य कोई जीव किसी ऐसे सङ्कट में पड़ा हो जिसमें बालक सहायता दे सके तो तुरन्त उसको उस सङ्कटापन्न की सहायता को भेज देना चाहिये। जब बालक कुछ सयाना हो जाता है तो उसको इस बात में उत्साहित करना चाहिये कि यदि उसके भोजन करते समय कोई भूखा प्राणी आ बैठे तो वह

अपने आहार में से उसको कुछ दे देवें, और वह अपने साथियों के सङ्कट के समय आगे रहे और लाभ के समय पीछे रहा करै। बालक के सामने कभी आशा से आये हुवे किसी प्राणी का अनादर भूलकर भी नहीं करना चाहिये। औदार्य्य की यह तो है व्यवहारिक विधि।

और दूसरी आनुषंगिक विधि यह भी है कि पांचवें वर्ष से बालक के सिराने प्रातःकाल जब कि वह सोया हुवा हो कभी कभी मृदङ्ग बर्जित करुणा रसात्मक मधुर मधुर गीत वाद्य होना चाहिये और वह ऐसी दबी हुई ध्वनि से होना छाहिये कि बालक की नींद खुलने न पावे। इस विधि से बहुधा मैत्री करुणा मुदितात्मक स्वप्न देखने में आते हैं और ऐसे स्वप्नों से हृदय में चित्तप्रसादन के संस्कार पड़ते हैं क्योंकि बाल्यावस्था में स्वप्न और जागृत अवस्था में भेद बहुत कम जान पड़ता है। स्वप्नावस्था प्रायः जागृतावस्था के समान जान पड़ती है, स्वप्नावस्था में प्राप्त किये हुवे संस्कार बालकों के चित्त में बहुत दिनों तक रह जाते हैं, और उनका फल भी प्रायः वैसाही होता है जैसा जागृतावस्था के संस्कारों का, कालान्तर में येही संस्कार प्रवृत्ति का रूप धारण कर लेते हैं, किन्तु प्रत्येक मनुष्य सङ्गीत विद्या से परिचित नहीं होता है, इस कारण इस उक्त आनुसंगिक विधि का प्रयोग सब मनुष्य नहीं कर सकते हैं, परन्तु 'रिवोलटीना' इत्यादि कई पाश्चात्य बाजे ऐसे हैं कि जिनको केवल घुमा देने से मनोहर वाद्य ध्वनि निकलती है और वे बहुत सस्ते बिकते भी हैं, अतः इसका प्रयोग सब कर सकते हैं।

४—गार्हस्थ शिक्षा—गृहस्थाश्रम में मनुष्य के अनेक कर्तव्य होते हैं। उसके ऊपर बहुत प्रकार के भार होते हैं अनेक बार

उसको मानो छुरे की धार में चलना पड़ता है। जिसने उन कर्तव्यों का पालन कर सका, जिसने वे भार सहन कर लिये, जो उस छुरे की धार में चल सका; उसके लिये यह गृहस्थाश्रम मानो निर्मल जलाशय है, जहां कुवासना रूप मैल और कुसंस्कार रूप धब्बे निकल कर जीवन रूपी वस्त्र स्वच्छ हो जाता है, परन्तु जिसका उन कर्तव्यों से मुंह मुड़ गया, जिसने वे भार सहन न कर सके, जिसको उस छुरे की धार में चलना न आया उसके लिये यह आश्रम दल दल के समान है जहाँ जीवन रूपी वस्त्र अधिक मलिन और अधिक धब्बे दार हो जाता है।

गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का पालन करने के लिये, उसका भार सहन करने के लिये, छुरे की धार के समान गृहस्थ के विकट मार्ग में चलने के लिये पौरुष, त्याग और विवेक की आवश्यकता होती है। क्योंकि पौरुष से कर्तव्य पालन करने की शक्ति आती है, त्याग से चित्त शान्त और प्रसन्न रहता है और विवेक से कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान रहता है, बिना पौरुष आदि गुणों के यथार्थ गृहस्थ धर्म का पालन हो नहीं सकता है। वैसे तो स्त्री बच्चे पक्षियों के भी होते ही हैं, वे भी चारे की ढूंढ़ में फिरा ही करते हैं, परन्तु इसका नाम गृहस्थाश्रम नहीं।

अच्छा इस पारत्रिक पक्ष को अलग कीजिये, ऐहिक पक्ष को ही लीजिये, मानलीजिये कि मनुष्य जीवन का लक्ष्य केवल भोग विलास है, मान लीजिये कि इस संसार में सुख का मीना बजार लगा हुआ है, मानलीजिये कि जब तक जीवन है, तभी तक यह मोहन मेला भी है और तभी तक यह सुख का मीना बाजार खुला है तदुपरान्त कुछ नहीं। किन्तु इस मीना बजार में उसी का काम है जिसके पास पौरुष रूपी धन

है, जिसके पास जितना पौरुष है उतना उसका यहां स्वागत होता है, विना पौरुष के जो इस मोहन मेले में आता है उसको या तो धक्के सहने पड़ते हैं या कुली बनना पड़ता है, अपरंच इस मोहन मेले में ठगी भी कुछ कम नहीं होती है, यहां असली माल के साथ नकली माल भी रखा हुवा होता है, विना विवेक रूपी कसौटी के असली और नकली माल की परख हो नहीं सक्ती है। अधिक-अधिकांश लोग इस मोहन मेले में सुख के मुलम्मे वाले दुःख को खरीद कर ले जाते हैं, और जब सुख की कलई उड़कर दुःख नजर आने लगता है तब पछताने लगते हैं। और फिर इस मोहन मेले में राग रूपी जेब कट्टे और लुटेरे भी सर्वत्र फिरा करते हैं, किसी के सुख को रहने नहीं देते हैं, एक हाथ से सुख आया नहीं कि तत्काल उन्होंने उसको हरा, विना त्याग रूपी रक्षक को साथ लाये किसी का माल इन लुटेरों से बच नहीं सकता।

भय्या मेरे! यह संसार वह स्थान है जहां बलिदान के लिये पौरुषहीन बकरी का बच्चा रखा गया है, मृगराज के बच्चे की बलि देने का किसी के मन में विचार तक न उठा, जहां उतना बड़ा उतना बलवान गजराज विवेक न होने से एक छोटे और बलहीन मनुष्य को अपने मस्तक में रक्खे फिरता है, और जहां बहुरागी बड़े २ राजा महाराजा अल्परागी किसान के सुख के लिये तरसते फिरते हैं।

चाहे पारत्रिक पक्ष को लीजिये अथवा ऐहिक को, चाहे धर्मशास्त्र को लीजिये अथवा देशकाल निमित्त को, चाहे आदर्श गृहस्थी को लीजिये अथवा विषयी लोकायतिक को; सब प्रकार यही सिद्ध होता है कि गृहस्थी के लिये पौरुष, विवेक और त्याग अत्यन्त अत्यन्त आवश्यक पदार्थ हैं, विना इनके

शान्ति की इच्छा करना, सुख की लालसा रखना निरी मूर्खता है, इन गुणों से रहित मनुष्य सिवाय पेट पालने, दिन काटने, जी ललचाने, मन भटकाने, बुनने और उधेड़ने के और कुछ नहीं कर सकता है। ऐसे मनुष्य को यह गृहस्थाश्रम अत्यन्त कण्टकमय जान पड़ता है।

गृहस्थाश्रम के लिये ही जब हम अपने बालकों को तैय्यार कर रहे हैं, उसही के लिये जब हम उनको शिक्षा दे रहे हैं, उसही के लिये जब हम स्कूल और कालेजों में भेज रहे हैं, उसही के लिये जब हम इतना कष्ट उठा रहे हैं और इतना आकाश पाताल कर रहे हैं तो क्या कारण है कि पौरुष, विवेक और त्याग की अपेक्षा किई जाय, क्यों बालकों में इन गुणों का आवाहन करने का यत्न न किया जाय। जब ये गुण उनमें आ जायँगे, तो यह निश्चय है कि माई अन्नपूर्णा उनको कभी नही भूलेगी; भगवती रत्नगर्भा अपनी सेवा निष्फल नहीं जाने देगी, सुख उनको अवश्यमेव अपनायेगा और शान्ति उनको लोरी देगी।

किन्तु उक्त पौरुषादि गुण बाल्यावस्था के अनुशीलन से प्राप्त होते हैं नकि उपदेश मात्र से अतः बाल्यावस्था से ही बालकों का लालन पालन ऐसे ही गुणों के बीच होना चाहिये, प्रति दिन की व्यवहारिक शिक्षा द्वारा उनको इन गुणों का अभ्यास करना चाहिये, उत्साह देने से इन गुणों की ओर उनकी अभिरुचि करा देनी चाहिये, इन गुणों से युक्त महापुरुषों के सुन्दर रङ्गीन चित्र उनके दृष्टि में पड़ने चाहिये ऐसे महापुरुषों की उसके सामने बड़ाई किई जानी चाहिये, उसके हृदय में भय और राग के संस्कारों को हवा तक नहीं लगने देनी चाहिये। इन गुणों के लिये बालकों की चित्तरूपी भूमि को तैय्यार करने की विधि किंचित्मात्र आदर्श जनन, बुद्ध्युत्पादन और

शीलोत्पादन में कही गई हैं। किन्तु आदर्श जनन में जहां चित्र दर्शन और गुण वर्णनविधि कही गई है वहां यह स्मरण रखना चाहिये कि सोलह वर्ष पर्य्यन्त अथवा बालशिक्षा-शैली पर्य्यन्त केवल वीर और तेजस्वी पुरुषों के ही चित्रों का उपयोग होना चाहिये और चरित वर्णन भी उन्हीं का होना चाहिये न कि ऋषि मुनि, कवि सूरि आदि शान्तशील पुरुषों का, क्योंकि इस छोटी अवस्था में बालक शान्तशील महापुरुषों के चरित्र के मर्म को समझ नहीं सक्ते हैं, उनकी सुकुमार मति इनकी गुण ग्राहिणी नहीं हो सकती।

पांचवे या छटे वर्ष से बालक को घर के छोटे मोटे काममें लगा देना चाहिये। यदि घर के काम के लिये सेवक वर्तमान हों तब भी बालक को खाली बैठाना नहीं चाहिये, कभी कभी सेवकों के साथ उससे भी काम लेना चाहिये और कभी सेवकों से काम न लेकर उससे काम लेना चाहिये, बड़े बड़े कामों में उनको अपने साथ रखना चाहिये और बताते रहना चाहिये कि कौन काम कैसे होता है, और यदि सम्भव हो तो अपने काम में उससे सहायता लेनी चाहिये।

जब बालक आठ नौ वर्ष का होजाता है तो गृहस्थ का दैनिक व्यय उसी के हाथ से करवाना चाहिये, जब वह कुछ प्रवीण हो जाता है, तो घर का सब खर्च उसी को सौंप देना चाहिये और इसके लिये उसको एक अलग पूँजी दे देनी चाहिये; किन्तु आप उसकी देखा भाली करते रहना चाहिये। उसको अपने साथ रख कर अपनी कुलवृत्ति के वंशपरम्परा गत कर्म के मूल तत्वों का व्यवहारिक ज्ञान करा देना चाहिये, जिससे सयाने होने पर बालक को जीवन यात्रा में कुछ कठि-नाई न जान पड़े। नवीन वृत्ति ग्रहण करने से मनुष्य को

अधिकांश शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ उसी में व्यय हो जाती हैं, अपरञ्च मनुष्यचोले का धर्म निभाने, मनुष्य जीवन का आनन्द भोगने, पारत्रिक यात्रा के लिये प्रबन्ध करने के लिये अथवा और अनेक आवश्यक बातों के लिये, उसको समय मिल नहीं सकता है। दशवें वर्ष से बालक को कृषि और गोरक्षा की व्यवहारिक शिक्षा देनी चाहिये, इन विषयों की पुस्तकें पढ़ाकर अथवा इन विषयों में कोई इम्तहान पास करा के अपने को कृतकृत्य नहीं समझ लेना चाहिये। ये काम बालक से वस्तुतः रूप में कराने चाहिये। बारह वर्ष के उपरान्त बालक की प्रवृत्ति के अनुसार उसको एक दो ऐसे सामान्य काम सिखाने चाहियें कि जो आपद् काल में उसके काम आवें, उसको सहारा देसकें, जिनसे उसकी जीवन यात्रा चल सके, क्योंकि कोई यह नहीं कह सकता है कि सदा सावन बना ही रहेगा, सदा तुरई फूलती रहेगी, सदा भगवती चंचला का कृपा कटाक्ष बना ही रहेगा, पवन सदा एक ही दिशा में चला करेगा। कौन जानता था कि एक दिन राजा नल को ऋतुपर्ण के घोड़े हांकने पड़ेंगे; भीम को विराट की रसोई बनानी पड़ेगी। उक्त प्रकार की शिक्षा मिल जाने पर बालक को अन्न वस्त्र की चिन्ता नहीं रहेगी, धैर्य्य उसका बना रहेगा, बुद्धि उसकी भ्रष्ट नहीं होगी।

तेरहवें वर्ष से बालक को जाति सम्बन्धी, देश सम्बन्धी कार्य्यों से परिचित करा देना चाहिये, जिससे सयाने होने पर वह स्वजाति और स्वदेश से अपना सम्बन्ध जान सके, उनके प्रति अपना कर्त्तव्य निभा सकै, गार्हस्थ धर्म्म का भली प्रकार पालन कर सकै; इसके लिये यह आवश्यक है कि उस को स्वदेश, स्वजाति, अन्य देश, अन्य जातियों के सामयिक समाचारों का, इनके वृत्तान्तों का, इनकी अवस्था और चेष्टा

का ज्ञान कराते रहना चाहिये। यह निश्चय है कि अनेक महाशय यह कहेंगे कि इस छोटी अवस्था में वालकों का इन बातों से कुछ सम्बन्ध नहीं होना चाहिये ; किन्तु यह देखा गया है कि जिनको वाल्यावस्था में ऐसी शिक्षा नहीं मिली जो केवल पुस्तकों की लौट फेर में रहै ; सयाने होने पर वे निरे कूप मण्डूक निकले, वेदान्तरूपी शिखर पर चढ़ने से जैसे यूरप वालों के फेफड़े फटने लगते हैं एवं दैशिकरूपी शिखर पर चढ़ने से उनको चक्कर आने लगता है, हृदय काँपने लगता है, बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, स्वदेश और स्वजाति सम्बन्धी उनके विचार विचित्र हो जाते हैं ।

इति पूर्वार्धः ।

अथ उत्तरार्धः

बालकों को फौलाद बनाने, उनमें दैवी सम्पद् का आवाहन करने की विधि का कुछ वर्णन हो चुका, अब किञ्चित उनमें धार लाने, उनकी बुद्धि को तीव्र करने की विधि का वर्णन होना चाहिये।

इस दूसरी विधि का अङ्ग है पढ़ना लिखना क्योंकि मनुष्य जीवन की अवधि है थोड़ी, ज्ञेय की सीमा नहीं और जिज्ञासा महती। अतः मनुष्य यदि प्रत्येक बात में प्रत्यक्ष प्रमाण ढूंढ़ने लगे और सदा अपने ही अनुभव के भरोसे रहा करें, तो काम नहीं चलेगा। यह देखने में आया है कि मनुष्य को अधिकतर आप्त वाक्य का प्रमाण मानना पड़ता है और बहुधा दूसरों के अनुभव पर चलना पड़ता है, किन्तु ये आप्त वाक्य और परानुभव सदा और सर्वत्र सुलभ हो नहीं सकते। अतः इनको सदा और सर्वत्र सुलभ करने के लिये लेखनक्रिया और पठनक्रिया का आविष्कार हुवा। अब ये क्रियायें इतनी बढ़ गई हैं और देशकाल निमित्त ऐसे जटिल हो गये हैं कि प्रत्येक गृहस्थी के लिये लिखना पढ़ना अत्यावश्यक हो गया है, बिना इसकी सहायता के कई बार सामाजिक गोरखधन्धों का सुलझाना कठिन हो जाता है। अतएव अधिक अधिकांश मनुष्य चाहने लगे हैं कि हमारी सन्तान लिखी पढ़ी हो और मनसा, वाचा, कर्मणा वे इस ओर प्रवृत होने लगे हैं। बात प्रशंसनीय है, किन्तु किञ्चित यह बात भी ध्यान में रख लेनी चाहिये कि पढ़ाई पढ़ाई में अन्तर होता है। भोजन और पढ़ाई बिल्कुल एक समान हैं; जैसे सभी भोजन पथ्य नहीं होते हैं, एवं सभी पढ़ाई हितकर नहीं होती है; जैसे भोजन इतना और ऐसा होना चाहिये कि जो सुपच और पथ्य हो, एवं

पढ़ाई भी इतनी और ऐसी होनी चाहिये कि जो बुद्धि में समा सके और हितकारी हो ; जैसे अत्यन्त भोजन से अजीर्ण हो जाता है, एवं अत्यन्त पढ़ाई से भी मनन शक्ति जाती रहती है, और जैसे अनाप सनाप भोजन करने से स्वास्थ बिगड़ जाता है, एवं यथा तथा पढ़ाई से भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जैसे भोजन अपने घर के समान सुन्दर और यथेष्ट हलवाई की दूकान में मिल नहीं सकता है, एवं पढ़ाई भी पिता के समान ठीक ठीक किसी भी वर्तमान स्कूल और कालेज में नहीं हो सकती है, अतः बालकों की पढ़ाई के आरम्भ में अधो लिखित नियमों का कुछ विचार कर लेना चाहिये।

नियम

१—अक्षरारम्भ से बाल शिक्षावसान तक छोटे बालकों का अध्यापन किसी प्रवीण अध्यापक द्वारा घर में ही होना चाहिये, भरशक यह काम पिता को स्वयंकरना चाहिये, क्योंकि यह काम जितने स्नेह, जितनी उत्कण्ठा से पिता द्वारा हो सकता है वैसे इन दिनों और किसी से होना असम्भव है। यदि पिता लिखा पढ़ा न हो तो उसको दूसरों से आप पढ़कर भी बालकों को पढ़ाना चाहिये। इस प्रकार अपने बालकों को पढ़ाते हुवे कई मनुष्यों की सफलता देखी गई। यदि बाल शिक्षावसान तक यह काम अपने आप न हो सके तो कम से कम तब तक होना चाहिये जबतक बालक लिखना पढ़ना अच्छे प्रकार न सीखले, जबतक वह गणित में कुछ कुछ गति प्राप्त न करले, और जब तक वह तर्क, अनुमान और विवेक का प्रयोग करना न सीखले। तदुपरान्त उसको किसी अच्छे अध्यापक के पास अथवा किसी अच्छे गुरुकुल में अथवा

किसी अच्छी पाठशाला में भेज देना चाहिये, और स्वयं यह देखते रहना चाहिये कि बालक की पढ़ाई कैसी हो रही है और उसकी प्रवृत्ति किस ओर हो रही है, ऐसा नहीं होना चाहिये कि बालक रूप गो को पाठशाला रूपी वन को भेज कर आप निश्चिन्त हो जाय।

२—अध्यापक को छात्र से ऐसा व्यवहार रखना चाहिये कि जिससे छात्र को अध्यापक के साथ बैठने में सुख प्राप्त हो, उनकी बात सुनने में आनन्द हो, छात्र को लेशमात्र भी सङ्कोच न हो, प्रत्येक प्रकार के प्रश्न करने का साहस रहै, पढ़ाने के के समय अध्यापक ने सदा प्रसन्न चित्त और हंसमुख रहना चाहिये, बीचबीच में कोई मनो विनोद की बात भी करनी चाहिये जिससे पढ़ाई का श्रम जाता रहै। यदि कभी अध्यापक की प्रकृति पित्त मई हुवी हो तो उस दिन पढ़ाई का काम नहीं करना चाहिये। विनोद पूर्वक नर्मालाप से पढ़ाने से बड़ा लाभ होता है।

३—जब तक बालक की रुचि हो तभी तक उसको पढ़ाना चाहिये, ज्योंही वह जमुहाने लगै अथवा और किसी प्रकार अरुचि के चिन्ह दर्शाने लगे तुरन्त पढ़ाना छोड़ देना चाहिये। यदि वह अरुचि न भी दर्शावे तौ भी उसको बहुत पढ़ाना नहीं चाहिये।

४—बारह वर्ष तक बालक से रटाई का काम नहीं करवाना चाहिये, क्योंकि इस बीच बालक की धारणाशक्ति बड़ी कोमल होती है, धारणा के आश्रित तर्क और अनुमान शक्तियां अङ्कुरित होने लगती हैं, तर्क और अनुमान का अनुयायी विवेक अभी बीजावस्था में ही होता है, इस अवस्था में रटाई से धारणाशक्ति में गड़बड़ पड़ जाती है, तर्क और अनुमान शक्ति-

यों के मूल से सार खिंचकर धारणा शक्ति में चला जाता है, जो काम स्वच्छन्द रूप से अन्वीक्षण द्वारा होना चाहिये वह काम बलात् अनुशीलन द्वारा किया जाता है, जिससे धारणा की स्वच्छन्द सहज शक्ति जाती रहती है, उसको आवृत्ति पुनरावृत्ति द्वारा बनाये हुवे मार्ग से चलने का अभ्यास हो जाता है। धारणा रूपी नदी में गड़बड़ हो जाने से, उसके दूसरे मार्ग में चले जाने से तर्क और अनुमान की कूल सूख जाती है, इसके सूख जाने से विवेक वाटिका मरुस्थली हो जाती है। हां यदि बालक किसी विषय को सुन लेने से ही स्मरण कर लेवे तो बहुत ही अच्छा है, किन्तु रटाई से उसकी धारणा शक्ति को हानि नहीं पहुंचानी चाहिये।

५—जब तक बालक में बातों को समझने, एक दो बार सुनकर उसको स्मरण करने, उनका सार ग्रहण करने और फिर उनको आप दुहरा सकने की शक्ति न आ जाय तब तक उसको पढ़ाने में पुस्तकों को काम में नहीं लाना चाहिये; क्योंकि श्रुति मार्ग से प्राप्त हुई स्मृति स्वतन्त्र शीघ्र-ग्राहिणी, चिरस्थायिनी और तर्काग्रगामिनी होती है किन्तु रटाई से प्राप्त हुई स्मृति बहुधा इसके विपरीत होती है।

६—कुछ समय तक बालक को पाव या आध घण्टे से अधिक नहीं पढ़ाना चाहिये, अधिक पढ़ाने से बालक को पढ़ाई में अरुचि हो जाती है, उसकी मानसिक और शारीरिक शक्तियां क्षीण हो जाती हैं, मनन शक्ति जाती रहती है। यह सर्व विदित है कि अरुचि से किये हुवे काम और अरुचि से खाये हुए अन्न का परिणाम अच्छा नहीं होता है, जब बालक की पढ़ने में रुचि हो जायगी तो वह स्वयं अपने पढ़ाई के समय को बढ़ा लायगा, और फिर भी बालक को

पढ़ाई के समय को इतना नहीं बढ़ाने देना चाहिये कि वह तन्मय होकर अपने को मानसिक भस्म रोग लगा लेवे, यह पहिले कहा जा चुका है कि पढ़ाई और भोजन में अत्यन्त सादृश्य है, जैसे भोजन ऐसा होना चाहिये जो शीघ्र पचकर रक्त मांस इत्यादि में परिवर्तित हो जाय, ऐसा न हो कि एक ओर से खाया जाय और दूसरी ओर से ज्यौंका त्यौं निकल जाय, एवं पढ़ाई भी ऐसी होनी चाहिये कि जो शीघ्र मनन होकर मन बुद्धि और शील में समा जाय, इस नियम की उपेक्षा करने से इन दिनों हमारी शिक्षित मंडली में इस रोग का ऐसा संचार हो रहा है कि हमारे पुराणाचार्य्यों को देश देशान्तर के इतिहासों की सैर करने का व्यसन तो हो जाता है किन्तु ऐतिहासिक सिद्धान्त कुछ भी प्राप्त नहीं होते हैं, हमारे विज्ञानाचार्य्यों का महत्व सिवाय उपाधि प्राप्त करने में रहता है न कि आविष्कार करने में, इत्यादि इत्यादि। अरुचि से प्राप्त की हुई विद्या ऐसी ही बन्ध्या होती है। अतः सदा इस बात का ध्यान रहै कि बालक मानसिक भस्म रोग से बचा रहै।

७—पढ़ाई का समय ऐसा होना चाहिये कि जब बालक भूख प्यास शीतोष्ण आदि द्वन्दों से व्याकुल न हो और जब उसकी बुद्धि स्वस्थ हो, और पढ़ाई के लिये स्थान भी ऐसा होना चाहिये कि जहां उसका ध्यान इधर उधर बटने न पावे, और जो खुला और रमणीक हो, जहां प्राकृतिक शोभा स्वच्छन्द रूप से विराज रही हो, और जहां उसको इधर उधर टहलने की पूरी स्वतन्त्रता हो। यह बात अनुभव सिद्ध है कि खुले मैदान में वृक्ष की छाया में अथवा किसी मुक्त-मण्डप में बुद्धि जैसी स्वच्छ और चित्त जैसा प्रसन्न रहता है वैसा बन्द कमरे के भीतर नहीं हो सकता है।

छोटे बालकों की पढ़ाई के लिये सर्वोत्तम समय सूर्य्य के उदय काल से चतुर्थांस दिन चढ़ने तक होता है, क्योंकि इस समय प्रकृति में सत्व का आधिक्य रहता है, जिससे फूल खिलने लगते हैं, पक्षी आनन्द से गाने लगते हैं, पशु उछलने कूदने लगते हैं, बच्चे प्रसन्न चित्त होकर खेलने लगते हैं, सूर्य्यास्त के पश्चात् बालकों को कभी नहीं पढ़ाना चाहिये, क्योंकि इस समय प्रकृति में तामस का आधिक्य होने लगता है। पक्षी अड्डे को, पशु वासस्थान को, शिशु माता को ढूंढ़ने लगता है, पढ़ाई के लिये वही समय, वही स्थान ठीक है जब और जहां प्रकृति में सत्व का आधिक्य हो।

८—पढ़ाई का कार्य अरुन्धती दर्शन न्यायसे होना चाहिये, न कि कूदा फांदी से अर्थात् पहिले सुपरिचित और सरल विषय लेने चाहिये, उसमें आधिपत्य हो जाने के पश्चात् उससे सम्बन्ध रखने वाले गहन विषय, एवं आगे को चलते रहना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये कि ज्यामिति और बीज गणित के मूल तत्वों का ज्ञान न हो और पढ़ाई होने लगे त्रिकोण मिति की, अपने देश के इतिहास का ज्ञान न हो और पढ़ने लगे प्राचीन रोम और ग्रीस का इतिहास, इस प्रकार की कूदा फांदी की पढ़ाई से बहुधा बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

९—बहुधा बालकों के चित्त में यह बात समाई हुई रहती है कि हमारे गुरूजी को ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त है। वे समस्त विषयों को हस्तामलकवत् जानते हैं। उनके चित्त से इस मिथ्या बिचार को निकाल देना चाहिये। नहीं तो पीछे सयाने होने पर उनकी स्वतन्त्र विचार शक्ति जाती रहती है, वे समाचार पत्रों में और पुस्तकों में लिखी हुई और अधिकार पाये हुये लोगों की निरर्थक बातों को भी सार्थक समझने लगते हैं।

१०—कभी कभी बालक बड़ी जटिल शंका कर बैठते हैं। जिसका समाधान करना कुछ खेल नहीं। अतः यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि बालकों की समझ में तर्क और पाण्डित्य भरे व्याख्यानों की अपेक्षा चतुर प्रत्युत्तर और उदाहरण अधिक बैठते हैं। यथा अनेक बालक यह पूछते हैं कि यदि ईश्वर है तो हम उसको क्यों नहीं देखते हैं। इसके उत्तर में तर्क वितर्क से काम नहीं चलेगा; और यदि एक पात्र में जल भर कर उसको यह दिखलाया जाय कि जल में कोई स्वाद नहीं है तदनन्तर उसमें सेंधा नमक का एक टुकड़ा घोल कर बालक से यह पूछा जाय कि अब इस जल में नमक है या नहीं, यदि है तो कहाँ? बालक यह उत्तर देगा कि इस जल में सर्वत्र नमक है, यदि ऐसा उत्तर न दे तो आप उससे यह उत्तर कहलवा देना चाहिये। फिर उससे यह पूछा जाय कि क्या तुम इस जल में नमक को देख रहे हो। निश्चय बालक का उत्तर "नहीं" होगा। तब फिर उसको यह समझाना चाहिये कि जैसे इस जल में सर्वत्र लवण वर्तमान है चाहे हम उसको देख नहीं सकते हैं। एवं ईश्वर भी सर्वत्र वर्तमान है चाहे हम उसको देख नहीं सकते हैं। यह तो हुआ उदाहरण द्वारा समझाना।

प्रत्युत्तर की रीति यह है कि बालक से उसके प्रपितामह का नाम पूछा जाय, उनका नाम बताने पर उससे यह पूछा जाय कि क्या तुम उनको देख रहे हो? उसके नहीं कहने पर उससे यह पूछा जाय कि वास्तव में वे थे या नहीं। उसके हां कहने पर उससे इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मांगा जाय। उसके इस बात का प्रमाण न दे सकने पर उसको यह समझाया जाय कि जैसे संसार में अनेक बातें ऐसी हैं कि जिनके प्रत्यक्ष प्रमाण न होने पर भी अनुमान अथवा आप्त वाक्य से उनकी सत्ता सिद्ध होती है, एवं ईश्वर की सिद्धि भी होती है; ऐसे

उदाहरण और प्रत्युत्तरों से बालकों का सन्तोष हो जाता है, और जो दर्शन शास्त्रों को झाड़ने लगो, तो न वे बातें बालकों की समझ में आने की और न उनको सन्तोष होने का।

११—कभी कभी बालक ऐसे जटिल प्रश्न कर बैठते हैं कि उनका ठीक उत्तर शीघ्र बन नहीं सकता। तो ऐसे अवसर पर बहुधा यह देखा गया है कि गुरूजी तिउरियां चढ़ाकर बालक को चुप कर देते हैं, जिससे बालक की जिज्ञासा और कुतूहलित्व नष्ट हो जाते हैं। अथवा गुरूजी कोई बेढङ्गा उत्तर देकर छात्रों के हास्यास्पद बन बैठते हैं। ऐसा नहीं करना चाहिये। जहाँ तक हो सके बालकों की शङ्का का समाधान उदाहरण और प्रत्युत्तर द्वारा होना चाहिये ; यदि ऐसा न हो सके तो स्पष्ट कह देना चाहिये कि इस समय इसका उत्तर नहीं बन सकता है, यदि सम्भव हुआ तो विचार कर इसका उत्तर दिया जायगा, और ऐसा करना भी चाहिये। इस प्रकार चलने में कोई हानि नहीं, हानि तो होती है उत्तर न दे सकने और बेढङ्गा उत्तर देने में।

१२—पढ़ाई के समय बालक के ध्यान को सदा अपनी ओर खींचे रहना चाहिये। इसके लिये यह उपाय है कि एक बात को उदाहरण सहित खूब समझाना चाहिये और फिर कुछ ठहर जाना चाहिये, तब वही बात बालक से दुहराने को कहना चाहिये। जब तक बालक इसको दुहरा न सके तब तक आगे को बढ़ना नहीं चाहिये, और अवसर पाकर बीच बीच में कोई हँसी की बात अथवा कोई मनोरंजक बात कह देनी चाहिये।

१३—प्रथम अवस्था में बालक को कोई अवैज्ञानिक और नियमशून्य वर्णमाला नहीं सिखानी चाहिये। इससे पढ़ाई में विलम्ब और कई प्रकार की हानियां होती देखी गई हैं।

१४—बालशिक्षा के अन्त तक बालक को व्याकरण के गोरखधन्धे में नहीं डालना चाहिये, क्योंकि बालक अपनी बोलचाल की भाषा की स्थूल बातों में तो भूल स्वयं नहीं करता है, और सूक्ष्म बातें उसकी समझ में आती नहीं हैं।

--०:०--

प्रारम्भिक वर्णमाला।

१—अक्षरारम्भ बालक के आठवें या नवें वर्ष में होना चाहिये, क्योंकि तब तक उसकी बुद्धि कुछ पक्की हो जाती है, अल्पावस्था में जिस बात को सीखने में बालक को एक वर्ष लगता है आठ वर्ष के पश्चात् उसी बात को सीखने में उस को दो मास लगते हैं। अक्षरारम्भ से कुछ दिन पूर्व उसको रेखा, कोण और वृत्त खींचना सिखाना चाहिये, जब बालक को इसमें अच्छा अभ्यास हो जाय तब उसको इन आकारों को इच्छानुसार जोड़ना सिखाना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से बालक को अक्षरों के सीखने में बड़ी सरलता रहती है। जब बालक उन आकारों को इच्छानुसार जोड़ने लग जाय तब उसको अ आ, इ ई, का लिखना, पढ़ना, उनको ठीक ठीक उच्चारण करना सिखाना चाहिये, जब बालक को इनमें अभ्यास हो जाय तब दूसरी बार उसको उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ, का लिखना, पढ़ना, और उच्चारण करना सिखाना चाहिये। इसके पश्चात् तीसरी बार ए ऐ, ओ औ, अं अः, का लिखना पढ़ना और उच्चारण करना सिखाना चाहिये, अनुस्वार और विसर्गों को प्रत्येक स्वर के साथ लिखना पढ़ना और उच्चारण करना सिखाना चाहिये, इस बात का ध्यान रहना चाहिये कि बालक आगे पढ़े हुए अक्षरों को भूल न जाय, अतः प्रतिदिन पूर्व पठित विषयों को दुहरा लेना चाहिये, जब बालक स्वरों के रूप और उच्चारण से सुपरिचित हो जाय, तब चौथी बार

उसको स्वरों के चिह्न और प्रयोग से सुपरिचित करा देना चाहिये; उसको यह समझाना चाहिये कि 'अ' का चिह्न कुछ नहीं होता है, किसी व्यञ्जन के अपने पूर्ण स्वरूप में होने अथवा उसके नीचे हलन्त के चिह्न के न होने से यह जान लेना चाहिये कि इस व्यञ्जन के साथ 'अ' वर्तमान है, आ = ा इ = ि, ई = ी, उ = ु, ऊ = ू, ऋ = ृ, ॠ = ॄ, ए = े, ऐ = ै, ओ = ो, औ = ौ, अनुस्वार = ं, विसर्ग = ः। उच्चारण करके और कक्षा के बालक को यह प्रत्यक्ष करा देना चाहिये कि कोई व्यञ्जन बिना स्वर की सहायता के उच्चारण नहीं हो सकता है, इसलिये व्यञ्जन का पूर्ण उच्चारण करने व सुनाई देने के लिये उसमें कोई न कोई स्वर जोड़ा जाता है, यथा देव = द् + ए + व् + अ। यदि आधा उच्चारण करना हो तो उस व्यञ्जन से जुड़े हुए दूसरे व्यञ्जन में किसी एक स्वर को जोड़ देते हैं, यथा :

ज्योति = ज् + य् + ओ + त् + इ।

सम्भव है कि व्यञ्जनों के सीखने के समय बालक यह पूछले कि इन व्यञ्जनों में तो किसी स्वर का चिह्न दिया हुआ नहीं है तो इनका उच्चारण क्यों हो रहा है, तो उसको यह समझा देना चाहिये कि इन सब व्यञ्जनों में अकार वर्तमान है, ये अक्षर अपने पूर्ण स्वरूप में वर्तमान हैं और न इनके साथ कोई हलन्त का चिह्न है अतः यह स्पष्ट है कि इनके साथ अकार वर्तमान है क्योंकि ऐसा पहिले कहा जा चुका है।

कदाचित बालक यह प्रश्न कर बैठे कि इन व्यजनों के साथ अकार ही काम में क्यों लाया गया, अकार में ऐसी विशेषता क्या है, और क्यों अकार के लिये कोई चिह्न नहीं रखा गया जब कि अन्य सब स्वरों के लिये चिह्न नियत किये

गये हैं, इसका यह उत्तर देना चाहिये कि अकार सब स्वरों में पहिला है और इसके अतिरिक्त वह अन्य स्वरों में भी अति सूक्ष्म रूप से विराजमान रहता है, यही कारण है कि अकार को ऐसी विशेषता दी गई है।

२—स्वरों की भांति व्यंजन भी बालक को एक दिन में पांच पांच करके सिखाने चाहिये। प्रति दिन पूर्व सीखे हुए वर्णों की पुनरावृत्ति कर लेनी चाहिये जिससे वह उनको भूल न जाय। जब बालक में समस्त वर्णों को अच्छी तरह लिखने पढ़ने की शक्ति आ जाती है तब उसको व्यंजनों को अन्य स्वरों के साथ लिखना पढ़ना सिखाना चहिये। जब बालक इसमें प्रवीण हो जाता है तब उसको छोटे छोटे सुपरिचित शब्दों का पढ़ना लिखना सिखाना चाहिये। जैसे बाबू, माता, भय्या, रोटी, गाय इत्यादि, जब वह ऐसे शब्दों को अच्छी तरह लिखना पढ़ना सीख जाय तब उसको संस्कृत के छोटे छोटे शब्दों का पढ़ना और लिखना सिखाना चाहिये जैसे भ्राता, ईश्वर, सूर्य्य, चन्द्र, इत्यादि। तदुपरान्त बड़े बड़े शब्दों का पढ़ना और लिखना सिखाना चाहिये, जैसे धृतराष्ट्र, अन्तरात्मा, विश्वम्भर, वृषभध्वज इत्यादि। एक दिन में चार या पांच शब्दों से अधिक नहीं सिखाने चाहिये। यह स्मरण रखना कि, लिखने पढ़ने में उच्चारण का ध्यान बना रहना चाहिये। उच्चारण के अनुसार लिखना और लिखे के अनुसार उच्चारण करना सिखाना चाहिये।

३—जब यह होचुके, तब बालक को रि और ऋ का, स, ष और श का भेद उच्चारण करके और करा के स्पष्ट कर देना चाहिये। तदनन्तर उससे ऐसे शब्द पढ़ाने और लिखाने चाहिये जिसमें रि और ऋ, स, ष और श काम में आये हों यथा रिपु, ऋतु; धात्री, धातृ; हृदय, वसन्त, षडानन, शर इत्यादि।

४—फिर बालक को बता देना चाहिये कि च, छ, ज, झ, और ञ के साथ सदा तालव्य शकार; ट, ठ, ड, ढ, और ण के साथ सदा मूर्धन्य षकार और त, थ, द, ध, और न के साथ दन्त्य सकार (दन्त्य) काम में आता है और उससे ऐसे शब्द लिखाने चाहिये जिससे यह जांच होजाय कि पूर्वोक्त बातें बालक के समझ में आई या नहीं। उदाहरणार्थ उससे "कश्चित्" कष्ट और अस्त शब्दों के समान अन्य शब्द लिखाने चाहिये।

५—तदनन्तर उसको यह बताना चाहिये कि कवर्ग के पूर्व अनुनासिक ङ के रूप में, चवर्ग के ञ के रूप में, टवर्ग के ण के रूप में, तवर्ग के न के रूप में, और पवर्ग के म के रूप में आता है यथा पङ्कज, काञ्चन, पण्डित, निन्दा, शम्भु इत्यादि।

६—इसके पश्चात् बालक को इण्डियन प्रेस में छपे हुये हिन्दी खिलौने के समान कोई एक मातृभाषा में लिखी हुई पुस्तक पढ़ानी चाहिये। उस पुस्तक में पाठ बालक से एक दो बार पढ़ाना चाहिये, फिर पाठ में से एक दो पंक्तियां लिखानी चाहिये और फिर एक संस्कृत श्लोक लिखाना चाहिये। इस प्रकार पढ़ने से साधारण बुद्धि का बालक अक्षरारम्भ से एक मासमें अच्छी तरह नागरी और संस्कृत शब्दों को लिखने पढ़नें लग जाता है। यदि कोई बालक इससे अधिक समय ले लेवे तो कुछ चिन्ता नहीं। बालक से अप्रसन्न नहीं होना चाहिये। जब तक उसको एक सोपान में अच्छा अभ्यास न हो जाय दूसरे सोपान में उसको नहीं लेजाना चाहिये।

७—जब बालक शब्दों को शुद्ध पढ़ने और लिखने लगजाय तो कोई अच्छी पुस्तक पढ़ाना आरम्भ कर देना चाहिये।

उसके समय को कुत्ते बिल्लियों की कहानियों में नष्ट नहीं करना चाहिये। किन्तु कोई गद्य की संक्षिप्त और सरल रामायण आरम्भ कर देनी चाहिये और बीच बीच में रामायण की घटनाओं के चित्र भी दिखाते रहना चाहिये, यथा अहल्या-तारण, धनुषयज्ञ, मारीचबध, सेतुबन्ध, इत्यादि इत्यादि चित्र दर्शन से बालकों के कोमल और कौतूहली चित्त में पाठ का विषय अनायास अङ्कित होजाता है। पुस्तक पढ़ने के पूर्व उस दिन के पाठ में आने वाले विषय को कथा के रूप में कह कर बालक को अच्छी तरह समझा देना चाहिये। जब वह उस विषय को समझ लेवे और अपने शब्दों में दुहराने लगे तब उसको उक्त विषय पुस्तक में पढ़ाना चाहिये। एवं दूसरे दिन भी करना चाहिये, इसके अतिरिक्त पहिले दिन का पाठ भी सुन लेना चाहिये। किसी विषय को कण्ठस्थ करने की अपेक्षा उसको अपने शब्दों में दुहरा सकना अच्छा है पहिली बार पाठ थोड़ा होना चाहिये, द्वितीय आवृत्ति में पाठ का प्रमाण बढ़ा देना चाहिये एवं तृतीय आवृत्ति भी होनी चाहिये। इस प्रकार पढ़ने से बालक की धारणा शक्ति और मेधाशक्ति बराबर बढ़ती जाती हैं। अपरंच उसकी बुद्धि में पुस्तक का अनुबन्ध, उसके चित्त में चरित्रनायक की छाया खूब समाजाते हैं। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य भी यही है। रामायण पूरी होने पर उसी प्रकार कोई सरल और गद्यात्मक महाभारत पढ़ाना चाहिये। रामायण की पढ़ाई महाभारत की पढ़ाई से पूर्व इस लिये कही गई है कि रामायण की कथा सरल हैं उसमें श्री रामचन्द्र जी प्रायः आदि से अन्त तक वर्तमान रहते हैं। इस लिये बालक को कथा के प्रकरण को स्मरण रखने और समझने में कठिनता नहीं जान पड़ती है; किन्तु महाभारत में कथा बीच बीच में टूट जाती है, प्रसङ्ग

इधर उधर चला जाता है और बीच में कई अन्य घटनाएं" और अन्य महारथियों का वर्णन चला आता है, इससे बालक को बिखरी हुई कथा समेटने में कुछ कठिनता मालूम पड़ती है, जब उक्त विधि से बालक महाभारत को भी पढ़ चुके तो उसको कोई उत्तम पद्यात्मक रामायण पढ़ानी चाहिये, हिन्दी भाषा वालों के लिये तुलसीकृत रामचरितमानस से बढ़कर और कोई रामायण की पुस्तक नहीं है। प्रथमावृत्ति में तुलसीकृत रामचरित मानस "अवधपुरी रघुकुल मणिराऊ" से, न कि आदि से आरम्भ होनी चाहिये, क्योंकि आदि में ऐसी बातें लिखी हुई हैं जो बालकों की समझ में आ नहीं सकती हैं। कुछ दिनों तक एक चौपाई या एक दोहे से अधिक नहीं पढ़ाना चाहिये, चौपाई या दोहा पढ़ाने के पूर्व उसका अर्थ खूब अच्छी तरह समझा देना चाहिये, तब उस चौपाई या दोहे को पढ़ाना चाहिये, तदनन्तर उसका अन्वय कराना चाहिये, साथ ही इसके अन्वय की विधि भी बताते रहना चाहिये, फिर बालक से उसका अन्वय अपने आप करने को कहना चाहिये, जब वह उसका अन्वय अपने आप कर ले, तब फिर उसको उस दोहे या चौपाई का अर्थ पढ़ाना चाहिये, जब बालक अपने आप अन्वय करने लग जाय तब समझो कि उसके समझ में अब पद्य रचना आने लगी है। जब बालक पद्य रचना को समझने लग जाय तब पढ़ाई में दोहे चौपाइयों की संख्या बढ़ा देनी चाहिये, इस प्रकार उक्त पुस्तक की एक आवृत्ति हो जाने पर दो तीन आवृत्तियां और करं लेना चाहिये, पद्यात्मक रामायण में अच्छा बोध हो जाने पर रहीम और गिरधर की कुण्डलियों के समान कोई अन्य अच्छी पद्यात्मक पुस्तकें आरम्भ करनी चाहियें, यद्यपि रामचरितमानस, रहीम और गिरधर की कुण्डलियों की

अपेक्षा कहीं कहीं कठिन हैं। चाहे उसमें कहीं कहीं उत्तर काण्ड के समान दुर्गम स्थल भी वर्तमान हैं पर तौ भी बालक को रामायण ही प्रथम पढ़ानी चाहिये क्योंकि :—

(१) गद्यात्मक रामायण पढ़े रहने से पद्य की रामायण को समझने में उनको बहुत कठिनता नहीं जान पड़ती है।

(२) कथा रूप में होने से रामायण का पद्य उपदेश की कुण्डलियों की अपेक्षा सुबोध जान पड़ता है।

(३) कोरे उपदेश की अपेक्षा चरित्र द्वारा दर्शाया हुआ उपदेश अधिक प्रभावोत्पादक होता है।

तत् पश्चात् बालक को गद्य की एक दो ऐसी पुस्तकें पढ़ानी चाहिये, जिनमें किसी प्राचीन स्वदेशी महापुरुष का चरित्र वर्णन हो, किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि वे महापुरुष, जिनकी जीवनियां बालकों को पढ़ाई जांय, अन्यदेशों के महापुरुषों से एक्कीस हों, पूर्व समय में भारत में ऐसे आदर्श पुरुष रत्नों की कुछ कमी नहीं थी, चाहे इन दिनों उनकी कमी हो।

इन दिनों एक ऐसा मत निकल चला है कि जिसके अनुयायी कविता की पढ़ाई को वृथा समझते हैं, उनका यह कहना है कि जो बात सीधी भाषा में प्रचलित शब्दों में हो सकती हैं उसके लिये क्यों टेढ़ी भाषा और अप्रचलित शब्द काम में लाये जांय, और क्यों पद्य की पढ़ाई में बालकों का समय नष्ट किया जाय, पद्य की पढ़ाई से पद्य को समझने की शक्ति के अतिरिक्त लाभ कुछ भी नहीं। उनकी इस उक्ति में कुछ कुछ हेत्वाभास तो अवश्यमेव है किन्तुः—

(१) जैसे भिन्न भिन्न पदार्थों के संयोग विशेष से एक

अद्भुत शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिससे बड़े बड़े कार्य्य हो जाते हैं, एवं शब्दों के विन्यास विशेष से भी एक ऐसी अद्भुत शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिस विन्यास विशेष के उच्चारण से अथवा जिसको सुनने से चित्त में अलौकिक और वर्णनातीत प्रभाव पड़ता है।

(२) वास्तविक कविता को अच्छी तरह पढ़ने या गाने से, अथवा उसका गाना सुनने से मनुष्य में अन्तर्लीन हुए दैवी गुणों का आविर्भाव होने लगता है, प्रकटी भूत दैवी गुणों की सम्वृद्धि होती है, राक्षसी और पैशाची गुणों का ह्रास होता है। कविता में वह चमत्कार, वह प्रसाद वह पराशक्ति भरी रहती है कि जो खिन्न हुए और मुर्झाये हुए चित्त को प्रसन्न कर देती है, वह पारस पत्थर है कि जिसके स्पर्श से दुःख रूपी लोहा सुख रूपी सोने में बदल जाता है, जिसके प्रताप से संसार से साधारण जवनिका उठ जाती है, नये नये विचित्र और मनोहर दृश्य दिखाई देने लगते हैं। जो संसार पहिले मरुस्थल भासमान होता था अब वह प्रकृति देवी का प्रमोद कानन जान पड़ता है, जो पदार्थ पहिले निरे कटीले पौधे जान पड़ते थे, अब उनमें गुलाब झूमते हुए, और सेवती हँसती हुई नजर आने लगती है, जहां पहिले कीचड़ जान पड़ता था अब वहां शैवाल के बीच बीच में फूले हुए कमल दिखाई देने लगते हैं।

(३) जैसे ज्यामिति और तर्क शास्त्र से बुद्धि में पैन चढ़ती है एवं कविता से चित्त में सहृदयता का आविर्भाव होता है।

जब बालक की धारणा-शक्ति ठीक हो जाती है तब उसको थोड़ा थोड़ा करके मूल गीता का दूसरा, दशवां और ग्यारहवां अध्याय, रामायण से कोई करुण और वीर रसात्मक पद्य,

ऋतुओं के वर्णन वाले पद्य, हितोपदेश के कोई श्लोक कण्ठस्थ कराके गाना सिखाना चाहिये। इससे धारणाशक्ति बढ़ती है, चित में सहृदयता आती है, कविता को ओर प्रवृति होती है और मनोरंजन होता है।

लिखना।

बालक को लिखाने के समय शब्दों का उच्चारण शुद्ध और स्पष्ट करना चाहिये, एक शब्द को अनेक बार उच्चारण करना चाहिये, बालक को उच्चारण में ध्यान देना सिखाना चाहिये, उसका ध्यान इस बात में रखना चाहिये कि किस अक्षर में कितनी मात्रा है, कौन उसका स्थान है, अर्थात् वह अक्षर हलन्त है या स्वरान्त, ह्रस्व है अथवा दीर्घ, कण्ठ का है या दन्त्य इत्यादि २। लिखने में बहुधा संस्कृत के श्लोक काम में आने चाहियें ; एक दिनमें एक श्लोक से अधिक नहीं लिखाना चाहिये। श्लोक लिखा कर बालक से फिर वह लिखा हुवा पढ़ाना चाहिये और फिर वही श्लोक पुस्तक में पढ़ाना चाहिये।

गणित।

जब बालक में लिखने पढ़ने की शक्ति खूब अच्छी तरह आ जाय, अथवा कुछ दिन ठहर कर बालक को गिन्ती सिखलानी चाहिये। यदि इससे पहिले उसने आप कुछ संख्या तक गिन्ती सीख ली हो तो अच्छा है। बहुधा यह देखने में आया कि बालक कुछ संख्या तक दूसरों से सुन कर गिन्ती सीख लेते हैं। यदि ऐसा न हुआ हो तो गिन्ती सिखलाने का सरल उपाय यह है कि सीढ़ी चढ़ने उतरने में, घण्टा बजने में, फलों को समेटने में बीस तक गिन्ती सिख-

लाई जाय, तत्पश्चात् उसको यह मोटा संकेत बता देना चाहिये कि बीस के पश्चात् गिन्ती की यह रीति है कि एक, दो आदि स्थानी अङ्कों के नाम लेने पढ़ते हैं फिर स्थान अंक का नाम, यथा एक+तीस, ब (दो)+तीस, ते+तीस, चौ+तीस, पैं+तीस, छ+तीस इत्यादि। दो का सांकेतिक नाम सदा ब होता है यथा दो+तीस=ब+तीस, दो सठि=बासठि ; बीस के स्थान में कहीं आइस का आदेश हो जाता है यथा एक+बीस=एकाईस, सत्तर के स्थान में हत्तर आदेश हो जाता है यथा एक+सत्तर=एकहत्तर।

बालक को गिन्ती सिखाने के समय इलायची दाने, या किसमिस, अथवा भुने हुए चने काम में लाना चाहिये। दो तीन बार गिन्ती सिखा लेने के पश्चात् उससे यह कहना चाहिये कि जितने दाने गिन सको उठाकर लेजाओ।

जब बालक अच्छी तरह सौ तक गिन्ती करने लग जाय तब उसको उन अंकों का लिखना सिखाना चाहिये। उसको यह समझा देना चाहिये कि पहिला अङ्क स्थान संख्या का और दूसरा तदुपर स्थानी संख्या का होता है यथा २१, इसमें पहिला अङ्क २ बीस के स्थान का है और दूसरा अङ्क १ बीस के ऊपर एक को बताता है दस का स्थान संख्या १, २० की २, ३० की ३, ४० की ४ होती है एवं आगे को भी जानना चाहिये।

जब बालक सौ संख्या तक गिनना, लिखना और पढ़ना सीख ले, तब उसको अङ्कपाठी अर्थात् एकाई, दहाई लिखना पढ़ना सिखाना चाहिये। उसको यह बताना चाहिये कि एकाई में एक अङ्क, दहाई में दो, सैकड़े में तीन, हज़ार में चार, दस हज़ार में पाँच अङ्क होते हैं, एवं आगे को भी जानना चाहिये।

पाटी बाईं ओर से दाहिनी ओर को क्रमशः पढ़ी जाती है, यथा १,२३,४५६=एक लाख+तेइस हजार+चार सौ+छप्पन। पहिले बालक को पाटी कण्ठस्थ करा देनी चाहिये, फिर आप कोई संख्या लिख कर बालक से पढ़वानी चाहिये, फिर उससे वही संख्या लिखवानी चाहिये। फिर यह बताना चाहिये कि ० के दो प्रयोग होते हैं एक तो पूर्व अङ्क का स्थान बताना, और दूसरा अपने स्थान में अङ्कों का अभाव जतलाना, यथा १००, यहाँ दो शून्य आने से यह मालुम होता है कि इन शून्यों के पूर्व जो एक है उसका अर्थ सैकड़ा के स्थान का एक है नकि एकाई का अर्थात् उसका अर्थ एक सौ है न कि एक, अपरञ्च यह भी मालुम हुआ कि दहाई और एकाई के स्थान में कोई अङ्क नहीं है।

तदुपरान्त बालक को १० तक पहाड़े कण्ठस्थ करा देने चाहियें। गाने के स्वर से पढ़ने से पहाड़े बालक को शीघ्र कण्ठस्थ हो जाते हैं।

जब यह सब अच्छी तरह हो ले तब उसको एकाई का दो अङ्कों का जोड़ सिखाना चाहिये यथा २+६, ९+७ इत्यादि ; फिर तीन अङ्कों का यथा १+२+४, २+७+९ इत्यादि एवं अङ्कों की संख्या पांच छै तक बढ़ानी चाहिये। तत्पश्चात् उसी प्रकार दहाई का, फिर सैकड़े का संकलन सिखाना चाहिये। एवं अङ्कों के स्थान को भी पांच छै तक बढ़ाना चाहिये। जोड़ करने में पहिले नुकुलः इत्यादि काम में लाने चाहियें और फिर अंगुलियों को।

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बालक पहिले पहल संकलन इत्यादि करने में प्राप्ति को अर्थात् हासिल जोड़ना भूल जाते हैं, अतः उनको सदा इसकी याद दिलाते रहना चाहिये।

जोड़ करने में अच्छा अभ्यास हो जाने पर बालक को गुणन सिखाना चाहिये, यह स्मरण रहना चाहिये कि गुणन सिखाने में सदा छोटी छोटी संख्याओं को काम में लाना चाहिये। बड़ी संख्याओं के गुणन से बालक घबरा जाते हैं; जहाँ बालक घबराया समझो कि बात बिगड़ी। बालक को कभी किसी बात में घबराहट नहीं करानी चाहिये।

गुणन के पश्चात् बालक को अन्तर या घटाना सिखाना चाहिये। इसमें भी पूर्वोक्त सङ्कलन की विधि को काम में लाना चाहिये।

तदनन्तर भाग सिखाना चाहिये। यह विषय सब से कठिन है, अतः इसमें अधिक समय देना चाहिये। पहिले पहल भाग देना बालकों को अति दुष्कर जान पड़ता है; इसका मुख्य कारण यह है कि बालकों को समझ में यह नहीं आता है कि भाज्य में भाजक का भाग कितनी बार जायगा; यथा १७७५÷२५, इस उदाहरण में बालक की समझ में यह नहीं आता है कि १७७ में २५ का भाग कितनी बार जायगा।

अतः भाग देना सिखाने में निम्न लिखित नियमों का ध्यान रहै :—

(१) प्रथम बालक को विलोम पहाड़े का अभ्यास कराना चाहिये, अर्थात् बालक को पहाड़ों में ऐसा अभ्यास हो जाना चाहिये कि पहाड़े के अन्तर्गत किसी गुणनफल को देने से वह उसके यथेष्ट गुण्य और गुणक को बता सकै, यथा कै पंजे बीस—प्रश्न करने पर बालक उत्तर दे सकै कि चार पंजे बीस।

(२) इसके पश्चात् उससे ऐसा भाग कराना चाहिये कि जिसमें दोनों भाज्य और भाजक एकाई हो, और भाज्य में भाजक का भाग पूरा पूरा चला जाय यथा ८÷२, ९÷३।

(३) फिर ऐसा कि जिसमें भाज्य भाजक से पूरा पूरा विभक्त न हो सकै, यथा ९÷२, ८÷३ ।

(४) तत्पश्चात् ऐसा कि जिसमें भाज्य में चार पांच अंक हों और भाजक में एक ही अंक हो और भाज्य के प्रत्येक अंक में भाजक का भाग पूरा पूरा चला जाय; यथा २४८÷२, ३६९÷३, ४८÷४ ।

(५) तदनन्तर ऐसा कि जिसमें भाज्य में चार पांच अङ्क हों और भाजक में एक ही अङ्क हो, किन्तु भाज्य के किसी भी अङ्क में भाजक का भाग पूरा पूरा न जाय; यथा ३५७९÷२; ४७५÷३ ।

(६) फिर ऐसा कि जिसमें भाजक में दो अङ्क हों और भाज्य में चार पाँच अङ्क हों; यथा २४६८÷१२, २४६८÷४८ ।

यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि पहिले पहल बालक भाज्य के उत्तर अङ्कों को उतारना भूल जाते हैं, अतः वारम्वार उनको इस वात का ध्यान दिलाते रहना चाहिये ।

दूसरी स्मरणीय वात यह है कि जव भाजक में एक से अधिक अङ्क होते हैं तो वालक वहुधा रुक जाते हैं, उनके रुकने का कारण यह होता है कि वे यह नहीं जानते हैं कि भाजक का भाग भाज्य में के वार देना चाहिये । अतः वालकों को यह एक मोटी जांच वता देनी चाहिये कि भाज्य के पहिले अङ्क में भाजक के पहिले अङ्क का भाग देना चाहिये, यदि भाज्य का पहिला अङ्क भाजक के पहिले अङ्क से छोटा हो तो भाज्य के पहिले दो अङ्कों में भाजक के पहिले अङ्क का भाग देना चाहिये, और तव जितनी बार भाग जाता हो उतने ही वार समूचे भाज्य में समूचे भाजक का भाग देना चाहिये, यदि ठीक भाग चला गया तो एवं आगे को चलना चाहिये

और जो उस लब्धि से भाजक को गुण कर गुणनफल ऊपर के भाज्य से अधिक हो जाता हो तो, एकोन लब्धि से अर्थात् उस लब्धि से एक कम करके जो बचता हो उसका भाग देना चाहिये, और जो फिर भी ठीक भाग न जाता हो तो फिर उससे भी एक कम करके जो बचता हो उससे भाग देना चाहिये, एवं ठीक भाग जाने तक करते रहना चाहिये, यथा २४६८÷१२ इस उदाहरण में बालक यह नहीं जान सकता है कि २४ में १२ का भाग कितनी बार जायगा, अतः भाजक १२ के पहिले अङ्क १ से भाज्यके पहिले अङ्क २ में भाग देना चाहिये, भाग जाता है २ बार, तब समूचे भाजक १२ का भाग २४ में २ ही बार देना चाहिये, २ से १२ को गुणा करने से आया २४, इस २४ को भाज्य २४ से घटाया तो कुछ न रहा, तो उतरा ६, ६ में बारह का भाग नहीं गया तो लब्धि हुई ० और उतरा ८। तो फिर बालक नहीं जान सकता है कि ६८ में १२ का भाग कितनी बार जायगा। अतः भाजक १२ के पहिले अङ्क १ का भाग भाज्य ६८ के पहिले अङ्क ६ में दिया तो लब्धि हुवी ६, इस लब्धि ६ से १२ को गुना तो गुणनफल हुवा ७२ जो ६८ से अधिक है अतः ६ से एक घटाया तो बचा ५, अब इस ५ से १२ को गुना तो गुणनफल हुवा ६० सो ६८ से कम है, तो १२ का भाग ६८ में ५ बार गया। एवं आगे को बढ़ते रहना चाहिये।

अब दूसरा उदाहरण लेना चाहिये ; यथा २४६८÷४८। इसमें भाजक ४८ के पहिले अङ्क ४ का भाग भाज्य के पहिले अङ्क २ में नहीं जाता है क्योंकि २ की अपेक्षा ४ बड़ा है, अतः भाज्य के पहिले अङ्कों में अर्थात् २४ में ४ का भाग दिया जायगा ; जिससे लब्धि हुई ६, किन्तु ४८×६=२८८, जो २४६ की अपेक्षा बड़ा है, अतः २४६ में ४८ का भाग ५ बार

दिया जायगा, ४८×५=२४०, जो २४६ में से ठीक घट सकता है। अब यह मालुम हो गया कि २४६ में ४८ का भाग ५ बार जाता है। एवं आगे को भी जानना चाहिये।

जब तक बालक को भाग देने में पूरा अभ्यास न हो जाय तब तक आगे को नहीं बढ़ना चाहिये।

तदनन्तर बालक को योग, अन्तर, गुणन और भाग के चिन्हों को काम में लाना सिखाना चाहिये, यथा १०+२=१२, १०−२=८, १०×२=२०, १०÷२=५।

जब बालक को इसमें अभ्यास होजाय तब उसको महत्तम समापवर्तक और लघुतम समापवर्त्यक और अपवर्तक सिखाने चाहियें।

फिर भिन्न भिन्न प्रकार के कोष्ठों को हटाने के नियम सिखाने चाहियें यथा :—

(१) कोष्ठ कई प्रकार के होते हैं, कोई रेखकार, कोई चन्द्राकार, कोई धनुषाकार इत्यादि, यथा—, ( ) { }

(२) पहिले सब से भीतर का कोष्ठ हटेगा, फिर उससे बाहर का, ततः उससे भी बाहर का, यथा—

{१०−(९−$\overline{८−७}$)}={१०−(९−१)}=

{१०−(८)}={१०−८}=२।

(३) किसी कोष्ठ के हटाने के पूर्व उसके अन्तर्गत संख्याओं को सरल कर लेना चाहिये, यथा ५−(१+२+३−४)=५−(६−४)=५−(२)=५−२=३।

(४) समान दो चिन्हों के योग से धन राशि (+) और विषम दो चिन्हों के गुणन से ऋण राशि (−) उत्पन्न होती है। यथा १×२=२, −१×−२=२; १×−२=−२, −१×२=−२।

(५) यदि किसी कोष्ट के पूर्व क्षय राशि का चिन्ह हो तो उस कोष्ट के हटने से उसके अन्तर्गत समस्त संख्याओं के चिन्ह बदल जायेंगे अर्थात् धन का ऋण, और ऋण का धन हो जायगा यथा :—१०−(१+२−३+४−५)=१०−(७−८) =१०−७+८=१८−७=११।

(६) यदि किसी कोष्ट के पूर्व धन राशि का चिन्ह हो तो विना उसके अन्तर्गत सख्याओं के चिन्हों को बदले कोष्ट हट जायगा, यथा १०+(७−८)=१०+७−८=९।

(७) यदि कहीं धन राशि संख्या और क्षयराशि संख्यावों का मिश्रण आ पड़े तो धन राशि संख्याओं को एकत्र करके उनका संकलन कर लेना चाहिये, और उसी प्रकार क्षय-राशि संख्याओं को भी एकत्र करके संकलन कर लेना चाहिये तदनन्तर उनका अन्तर निकालना चाहिये. यथा १−२+३−४ ६+५−६+७=१+३+५+७−२−४−=१६−१२=४।

(८) यदि कहीं भिन्न भिन्न प्रकार के चिन्हों का सन्निपात आ पड़े तो सब से प्रथम प्रभाग जाति (का) का चिन्ह सरल होगा, फिर भाग (÷) का उसके पश्चात् गुणन (× का, तदनन्तर योग (+) और ऋण (−) का, यथा १०+९×१८÷२ का ३−१=१०+९×१८÷६−१=१०+९×३−१=१०+२७−१=३६।

इसमें यह प्रश्न हो सकता है कि इन पूर्वोक्त नियमों में जो चिन्ह बिषयक बातें हैं उनका सम्बन्ध बीज गणित से

हैं, वे वालकों की समझ में नहीं आ सकतीं हैं और न उनको सीखने से वालकों को कुछ लाभ है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ये चिन्ह विषयक बातें बहुत सरल हैं और चित्र (ग्राफ) द्वारा समझाने से बालक की समझ में बहुत अच्छी तरह आ सकती हैं और यह भी मालूम हो सकती है कि अङ्कगणित से भी इनका कुछ कुछ सम्बन्ध है। और इन बीज-गणित की बातों को अङ्कगणित के साथ सिखाने में लाभ यह है कि अङ्कगणित के साथ साथ बालक बीज-गणित में भी बराबर चलता जाता है, उसको कहीं कठिनाई नहीं जान पड़ती, और अङ्कगणित के साथ साथ बीज-गणित सीखने से गणित का आधार बहुत अच्छा हो जाता है।

जब बालक उक्त नियमों को अच्छी तरह सीखले तब उसको कोष्ठ बद्ध पूर्णाङ्क संख्याओं का सरलीकरण सिखाना चाहिये।

इसके पश्चात् बालक को भिन्न सिखाने चाहियें, पहिले उसको भिन्न, संयुक्त भिन्न, भाग जाति भिन्न, अभाग जाति भिन्न का अर्थ समझा कर उनके अनेक उदाहरण दिखाने चाहियें, फिर उसको भिन्नों का लघुतम निकालना सिखाना चाहिये, फिर विषम भिन्नों को संयुक्त भिन्नों में और संयुक्त भिन्नों को विषम भिन्नों में बदलना, ततः अभाग जाति और प्रभाग जाति भिन्नों को सरल करने की रीति, तदनन्तर भिन्नों के संकलन आदि के नियम बताने चाहिये और कुछ समय तक विना आगे बढ़े उक्त बातों का अभ्यास कराते रहना चाहिये, जब बालक को इनमें अच्छा अभ्यास हो जावै तब उससे कोष्ठबद्ध विविध प्रकार के भिन्नों का सरलीकरण सिखाना चाहिये। इसमें बालक को यह समझा देना चाहिये कि

अभाग जाति भिन्नों के सरलीकरण में अंश और हर को अलग अलग सरल कर लेते हैं और तब आगे बढ़ते हैं, और संलग्न भिन्न को सरल करने में नीचे से ऊपर को चलते हैं यथा :—

$$१+\cfrac{१}{५-\cfrac{२}{३+\cfrac{३}{\cfrac{९+१}{३}}}}$$

$$=१+\cfrac{१}{५-\cfrac{२}{३+\cfrac{३}{\cfrac{१०}{३}}}} \qquad =१+\cfrac{१}{५-\cfrac{२}{३+\cfrac{३\times३}{१\times१०}}}$$

$$=१+\cfrac{१}{५-\cfrac{२}{३+\cfrac{९}{१०}}} \qquad =१+\cfrac{१}{५-\cfrac{२}{\cfrac{३०+९}{१०}}}$$

$$=१+\cfrac{१}{५-\cfrac{२}{\cfrac{३९}{१०}}} \qquad =१+\cfrac{१}{५-\cfrac{२\times१०}{१\times३९}}$$

$$=१+\cfrac{१}{५-\cfrac{२०}{३९}} \qquad =१+\cfrac{१}{\cfrac{१९५-२०}{३९}}$$

$$=१+\cfrac{१}{\cfrac{१७५}{३९}} \qquad =१+\frac{१\times३९}{१\times१७५}$$

$$= १ + \frac{३९}{१७५} \qquad = \frac{१७५ + ३९}{१७५}$$

$$= \frac{२१४}{१७५} \qquad = १\frac{३९}{१७५}$$

बहुधा यह देखने में आया है कि बालक एक प्रकार का भिन्न विषयक सरली करण बताने पर दूसरे प्रकार का भिन्न विषयक सरलीकरण आपड़ने पर रुक जाते हैं, अतः उनको प्रत्येक सोपान को रखना सिखाना चाहिये, बीच में किसी सोपान को उड़ा नहीं देना चाहिये, जैसे पूर्व लिखित उदाहरण में $१ + \frac{३९}{१७५}$ एक दम $१\frac{३९}{१७५}$ लिख दिया जा सकता था किन्तु ऐसा ठीक नहीं समझा गया। प्रत्येक सोपान को रखने से बालक के हाथ सरलीकरण की कुञ्जी आ जाती है।

इसके उपरान्त उसको एक अमिश्र राशि को दूसरी अमिश्र राशि में बदलना सिखाना चाहिये। यथा रुपयों के आने या पाई बनाना, पाइयों के आने या रुपये बनाना। मनों के सेर या छटांक बनाना और छटांकों के सेर या मन बनाने। फिर एक मिश्र राशि को दूसरी राशि में लाना यथा रुपये-आने-पाइयों के पाई या आने या रुपये बनाना। मन-सेर-छटाकों के, मन या सेर या छटांक बनाना।

तत्पश्चात् मिश्र संख्याओं का संकलन, अन्तर, गुणन और भाग सिखाना चाहिये।

फिर मिश्र संख्याओं को भिन्नाकार में लाकर उनका जोड़ना, घटाना, गुणना और भाग देना सिखाना चाहिये।

जब बालक को यहाँ तक खूब अच्छा अभ्यास हो जाय तब उसको धन का प्रयोग सिखाना चाहिये अर्थात् धन सम्बन्धी प्रश्न कराने चाहियें, फिर ऋण का प्रयोग, इसके पश्चात्

गुणन का, फिर भाग का, तदनन्तर धन और ऋण का यौग पदिक प्रयोग, ततः धन ऋण और गुणन का यौगपदिक प्रयोग और फिर धन, ऋण, गुणन और भाग का यौगपदिक प्रयोग सिखाना चाहिये।

इसके पश्चात् ऐकिक नियम सिखाकर कुछ दिन अनुपात् और समानुपात् बताकर त्रैराशिक और बहुराशिक प्रश्न कराने चाहियें।

फिर भिन्नों का महत्तम समापवर्तक और लघुतम समापवर्त्य निकालना सिखाकर, महत्तम समापवर्तक और लघुतम समापवर्त्य सम्बन्धी प्रश्न बताने चाहियें।

फिर दशमलव इत्यादि वर्ग और वर्गमूल निकालना सिखा कर इनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न सिखाने चाहियें।

इस प्रकार अरुन्धती दर्शन न्याय से चलने से बालक को कठिनाई नहीं जान पड़ती है वरन उसकी बुद्धि में सरासर पैन आती जाती है। इसके विपरीत कच्ची अवस्था में इबारती सवालों को कराने से बालक घबड़ा जाता है और उनकी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि विस्तीर्ण अङ्क गणित का अभिप्राय यह है कि बालक की बुद्धि तीव्र हो, उसकी अनुमान शक्ति बढ़ै, उसमें दूरदर्शिता आवे, न कि उसके मस्तिष्क में भिन्न भिन्न प्रकार की रीतियां भर दी जांय। अतः इस अवस्था में बालक को व्यवहार गणित (प्रेक्टिस) इत्यादि नहीं सिखाने चाहिये, क्योंकि जो काम इनसे निकलता है वह त्रैराशिक रीति से भी निकल जाता है।

जब से बालक को अङ्कगणित सिखाया जाता है तबसे एक दिन साहित्य और लिखने के लिये और एक दिन अङ्कगणित के लिये रखना चाहिये।

बीजगणित

जब बालक अङ्कगणित में पूर्णाङ्क संघ से कोष्टों को हटाना सीख लेता है तो उसको बीजगणित सिखाना आरम्भ कर देना चाहिये। बीजगणित आरम्भ करने के दिन बालक से चिन्हों सहित लिखे हुए पूर्णाङ्क अङ्कों का एक छोटा जोड़ कराना चाहिये, यथा १+२+३+४+५+६+७+८+९+१०=५५।

फिर उन अङ्कों के स्थान में उतने ही चावल या और किसी चीज़ के दाने रखकर बालक से जुड़ाने चाहिये। जब यह भी होले तब उन अङ्कों में से कुछ अङ्कों के स्थान में चावल कुछ के स्थान में चने, कुछ के स्थान में अरहर, एवं कई प्रकार के दाने रखने चाहिये और फिर बालक से एक एक प्रकार के दानों को अलग अलग जुड़ाना चाहिये। यथा १चावल+२ अरहर+३ मसूर+४ जौ+५ चावल+६ अरहर+७ मसूर+८ जौ+९ चावल+१० अरहर+१५ चावल+१८ अरहर+१० मसूर +१२ जौ।

फिर उन दोनों को हटाकर उनके स्थान में उनके सांकेतिक नाम लिखकर जुड़ाने चाहिये । यथा १ च+२ अ+३म+४ज+५च+६अ+७म+८ज+९ च+१०अ+१५च+ १८अ + १०म+१२ ज।

इसके पश्चात् उक्त संख्या संध में कुछ को धन राशि में और कुछ क्षय राशि में लिखकर और उनके साथ वही साङ्केतिक नाम लिखकर बालक से उनको सरल कराना चाहिये। यथा १ च+ २ अ - ३ म - ४ ज+५ च - ६ अ - ७ म - ८ ज+९ च - १० अ+१५ च - १४ अ - १० म - १२ ज।

एवं जब बालक को एक धात वाला जोड़ना घटाना और संक्षेप करने का अभ्यास हो जाय तो उसको एक धात वाला समीकरण सिखाना चाहिये। उसकी रीति यह है किः—

(१) बालक से कुछ पैसों के फल खरीद कराने चाहिएँ, फिर एक ओर खरीदे हुए फल और दूसरी ओर उतने पैसे रखकर उनके बीच में बराबर का चिन्ह (=) रखना चाहिये। मानलो कि चार पैसे की १२ नारङ्गी खरीदीं तो उनको निम्न प्रकार से रखना चाहिये

४ पैसे = १२ नारङ्गी

अब बालक से पूछना चाहिये कि एक पैसे की कितनी नाराङ्गी आई और कैसे। यदि उसने अपने आप ठीक उत्तर देदिया तो अच्छी बात है, नहीं तो आप उसको बता देना चाहिये कि अज्ञात संख्या के अग्रसर का भाग ज्ञात संख्या में देने से जो आता है वही उत्तर होता है। और उसको अधो लिखित रीति से रखना चाहिये।

यथा ४ पै = १२
∴ १ पै = $\frac{१२}{४}$ = ३
∴ १ पै = ३ नारङ्गियों के

(२) फिर यह बताना चाहिये कि जिस अक्षर के साथ कोई अङ्क लिखा रहता है उसको अज्ञात संख्या कहते हैं और जिसके साथ कुछ नहीं लिखा रहता है उसको ज्ञात संख्या कहते हैं। यथा पूर्वोक्त उदाहरण में ४ पैसे अज्ञात संख्या हैं और १२ ज्ञात संख्या है।

३) अज्ञात संख्या के साथ जो अङ्क होता है उसको अग्रसर कहते हैं और अक्षर को आधार कहते हैं। यथा ऊपर दिये उदाहरण में ४ अग्रसर है और पैसे आधार हैं।

(४) समीकरण में समस्त अज्ञात संख्याएँ एक ओर विशेषतः बाईं ओर रखी जाती हैं और समस्त ज्ञात संख्याएँ दूसरी

और विशेषतः दाहिनी ओर रक्खी जाती हैं। इसको स्थानान्तरी करण कहते हैं।

(५) यदि उचित हो तो स्थानान्तरी करण के पूर्व संख्या संघ को सरल कर लेना चाहिये।

(६) स्थानान्तरी करण में जो संख्या अपने पक्ष से दूसरे पक्ष में चली जाती है उसका चिन्ह बदल जाता है, अर्थात् धन राशि का क्षयराशि और क्षयराशि का धनराशि हो जाता है। क्योंकि समीकरण में एक पक्ष से समस्त ज्ञात संख्याओं का और दूसरे पक्ष के समस्त अज्ञात संख्याओं का लोप किया जाता है जिसके लिये समीकरण के दोनों पक्षों में लोपाभीष्ट संख्याओं के विपरीत संख्याओं का निवेश किया जाता है, एवं एक पक्ष में वेही संख्याएं विपरीत चिन्ह लेकर आ विराजती हैं। यथा ३ अ + २ = २२ − ७अ

इस समीकरण में वायें पक्ष से २ का और दाहिने पक्ष से ७ अ का लोप करना चाहिये।

इसके लिये समीकरण के दोनों पक्षों में − २ और + ७ अ का निवेश करना चाहिये।

क्योंकि बराबर संख्याओं में बराबर संख्याओं के जोड़ने या घटाने से कुछ अन्तर नहीं पड़ता है।

अतः ३ अ + २ − २ + ७ अ = २२ − ७ अ + ७अ − २

अर्थात् १० अ = २०

(७) अन्त में ज्ञात संख्या में अज्ञात संख्या के अग्रसर का भाग देना चाहिये। भाग देकर जो आयेगा वही उत्तर होगा।

(८) यदि समीकरण में कोई भिन्न आगया हो तो समी-

करण के दोनों पक्षों को समस्त हरों के लघुतम समापवर्त्य से गुण देना चाहिये क्योंकि इस प्रकार दोनो ओर के समस्त भिन्न पूर्णाङ्क संख्या में बदल जाते हैं। ऐसा करने से समीकरण में कुछ अन्तर नहीं पड़ता है क्योंकि बराबर संख्या से गुणने या भाग देने से कुछ अन्तर नहीं पड़ता है।

यथा $\frac{क}{४}+\frac{३}{५}=\frac{१}{४}-\frac{क}{५}+\frac{७}{२}$

दोनों पक्षों को ४, ५ और २ के लघुतम समापवर्त्य अर्थात् २० से गुणने से प्राप्त हुवा

५ क + १२ = ५ − ४ क + ७०।

किन्तु स्मरण रहे कि ये बातें बालक को रटानी नहीं चाहिये परन्तु अनेक प्रकार के छोटे २ समीकरण कराके उनके चित्त में ये बातें अंकित कर देनी चाहियें।

उदाहरणार्थ निम्न लिखित समीकरण को सरल करते जाना चाहिये और बालक को समझाते जाना चाहिये।

१ अ−२−३ अ+४+५ अ=६+७ अ−८−९ अ+१०। अब एक ओर अज्ञात संख्याओं को और दूसरी ओर ज्ञात संख्याओं को लाने के लिये स्थानान्तर करें। स्मरण रहे कि जो संख्या अपने पक्ष से दूसरे पक्ष में जायगी उसका चिन्ह बदल जायगा यथा − २ का + २, + ४ का − ४, + ७ अ का − ७ अ, −९अ का + ९अ, होगा।

अर्थात् १ अ − ३अ + ५ अ − ७अ + ९ अ = ६ − ८ + १० + २ − ४

अब दोनों पक्षों को सरल कर लेंगे

अर्थात् १५ अ − १० अ = १८ − १२

अर्थात् ५ अ = ६

∴ अ $=\frac{६}{५}=१\frac{१}{५}$

समीकरण में अभ्यास हो जाने पर बालक को बीज गणित के गुणन और भाग सिखाने चाहियें। इनके लिये अधो लिखित बातें स्मरण रखनी चाहिये :—

(१) समान चिन्ह वाली दो संख्याओं को गुणने या एक एक का दूसरे में भाग देने से धन राशि का चिन्ह आता है।

यथा १० क×२ = २० क, १० क÷२ = ५ क,

− १० क×−२ = २०क, − १०क÷−२ = ५ क

(२) विषम दो संख्याओं को गुणने अथवा एक का दूसरे में भाग देने से ऋय राशि का चिन्ह आता है

यथा १० क× − २ = − २० क, − १० क×२ = − २० क, १० क÷−२ = −५क, −१० क÷२ = −५ क

(३) गुणन में अग्रसर गुणे जाते हैं और घात जोड़े जाते हैं यथा $२क \times ३क^{२} \times ४क^{३} \times ५ क^{४}$

$= २ \times ३ \times ४ \times ५ (क)^{१+२+३+४} = १२० क^{१०}$

(४) भाग देने में अग्रसरों का भाग दिया जाता है और घात घटाये जाते हैं यथा $१२०क^{१०} \div ५क^{४} = \frac{१२०}{५}(क)^{१०-४}$ $= २४ क^{६}$; $२४ क^{६} \div ४ क^{३} = \frac{२४}{४} (क)^{६-३} = ६ क^{३}$ ।

(५) यदि अज्ञात संख्यायें बिना क्रम के रखी हुई हों तो उनको ठीक क्रम से रख लेना चाहिये। यथा $१ + क + क^{५} + क^{२} + क^{४} + क^{३}$ ।

इस उदाहरण में संख्याएं बिना क्रम के रखी हुई हैं इनको क्रम से रख कर होता है

$१ + क + क^{२} + क^{३} + क^{४} + क^{५}$ अथवा $क^{५} + क^{४} + क^{३} + क^{२} + क + १$ ।

यदि बालक किसी नियम का हेतु पूछे तो उसको सरल भाषा में सरल रीति से अनेक उदाहरण देकर उसका हेतु बता देना चाहिये।

जब बालक को अङ्कगणित के इबारती सवालों को करने का अच्छा अभ्यास हो जाय तब उसको सरल न्यास सिखलाने चाहिये। जब तक बालक को अङ्कगणित के इबारती सवालों को सरल करने की शक्ति न आ जाय तब तक उसको न्यास नहीं सिखलाने चाहिये। न्यास में सब से आवश्यक बात है इष्ट मानना और फिर इष्ट मान कर समीकरण बनाना, जहां इष्ट मानना और समीकरण बैठाना आ गया तो समझो कि बालक के हाथ न्यास की कुञ्जी आ गई। बालक को न्यास सिखाने की रीति यह है कि पहिले उससे कुछ न्यास विलोम रीति से कराने चाहिये अर्थात इस रीति से कि जो उत्तर आता हो उसको लेकर न्यास की परताल करानी चाहिये। यथा—किसी संख्या के तिगुने से १५ घटा कर ४५ बचता है तो बताओ कि वह संख्या क्या है?

इसका उत्तर आता है २०

अब इस २० को लेकर न्यासकी परताल कर लेनी चाहिये।

यथा २०×३−१५=६०−१५=४५।

जब बालक उत्तर को इष्ट मानकर न्यास की परताल करने का अच्छा अभ्यास हो जाय तब उसको यह सिखाना चाहिये कि उत्तर को इष्ट मान लेना चाहिये और तब उस इष्ट को उत्तर समझ कर प्रश्न के अनुसार इस तरह चलना चाहिये कि मानो न्यास की परताल हो रही है। एवं एक समीकरण बन जायगा जिसको सरल करने से उत्तर

प्राप्त हो जायगा, तब फिर उस उत्तर को लेकर न्यास की परताल कर लेनी चाहिये।

यथा—(१) यदि तीन अविरत संख्याओं का जोड़ १०५ है तो उन संख्याओं क बताओ।

इसका उत्तर आएगा तीन अविरत संख्याओं में, एक संख्या भी मालुम होने से अन्य दो संख्याएं भी मालुम हो सकती हैं। मानलो कि पहिला अङ्क क है, तो दूसरा अङ्क क+१ होगा और तीसरा अङ्क (क+१)+१ अर्थात् क+२ होगा।

प्रश्न के अनुसार

$$क + (क + १) + (क + २) = १०५$$

अर्थात् $३ क + ३ = १०५$

स्थानान्तरेण

$$३क = १०५ - ३$$

अर्थात् $३ क = १०२$

$$\therefore क = \frac{१०२}{३} = ३४$$

अर्थात् प्रथम संख्या ३४, दूसरा ३५, तीसरा ३६ है,

(२) एक ऐसा संख्या निकालो जो अपने षष्ठांश से ३० बड़ा हो।

इसमें उत्तर आता है संख्या में, तो हम उस संख्या के स्थान में 'क' को इष्ट मान लेंगे। तब इसको उत्तर समझ कर इस तरह चलेंगे कि मानों न्यास की परताल हो रही है।

यदि वह संख्या क है तो उसका षष्ठांश हुवा $\frac{क}{६}$ तो प्रश्न

के अनुसार $क = \frac{क}{६} + ३०$

अर्थात् $क = \frac{क + १८०}{६}$

अर्थात् $६ क = क + १८०$

स्थानान्तरेण

$६ क - क = १८०$

अर्थात् $५ क = १८०$

$\therefore \quad क = \frac{१८०}{५} = ३६$

उत्तर ३६ ।

जब बालक सरल न्यासों को अपने आप करने लग जाय तब उसको सरल प्रकार के उत्पादक निकालने सिखाने चाहियें ।

तदनन्तर यौगपदिक समीकरण सिखाने चाहिये ।

फिर तत् सम्बन्धी न्यास ।

और फिर वर्गात्मक समीकरण ।

ततः तत् सम्बन्धी समीकरण ।

न्यास में अभ्यास हो जाने पर बालक से नित्य कुछ न्यास सधाने चाहियें, क्योंकि इससे बालक की बुद्धि बढ़ती है अपरंच गणित की ओर उसकी प्रवृति होती जाती है ।

बीज गणित आरम्भ करने के दिन से एक दिन साहित्य के लिये, एक दिन अङ्कगणित के लिये और एक दिन बीज गणित के लिये रखना चाहिये ।

रेखागणित ।

जब बालक बीज गणित में सरल समीकरण सम्बन्धी न्यासों का अपने आप सरल करने लग जाय तब उसको ज्यामिति सिखानी चाहिये, प्रथम उसको बिन्दु, बिन्द्वात्मक रेखा, सरल रेखा, वक्र रेखा, कोण और वृत बनाना सिखाना चाहिये। इसके पश्चात् क्रमानुसार सीधी रेखा, समानान्तर रेखा, न्यून कोण, समकोण, अधिक कोण, विषमबाहु त्रिभुज, समद्विबाहु त्रिभुज, समत्रिबाहु त्रिभुज बनाने सिखाने चाहिये तदनन्तर वर्ग, आयत, समबाहु चतुर्भुज, समानान्तर चतुर्भुज, समलम्बक चतुर्भुज, विषमलम्बक चतुर्भुज, सम वह्वास्र, विषम वह्वास्र, ज्या, चाप आदि खींचने सिखाने चाहिये।

ये आकार प्रथम यन्त्रों की सहायता से तदनन्तर विना यन्त्रों की सहायता से बनाने सिखाने चाहिये, जब बालक उक्त चित्रों को अच्छी तरह पहचानने और बनाने लग जाय तब उसको उनकी परिभाषा सिखलानी चाहिये. परिभाषिक शब्दों को छोड़कर और सब बातें बालक की बोलचाल की साधारण भाषा में सिखलानी चाहिये। पुस्तक में रटाकर कोई बात नहीं पढ़ानी चाहिये। जो कुछ बताना हो मुख से बताना चाहिये। इस प्रकार तब तक पढ़ाना चाहिये जब तक वह पुस्तकों की भाषा को अनायास समझने, बोलने और लिखने न लग जाय। तदुपरान्त सब कुछ उसको पुस्तकीय भाषा में सिखाना चाहिये।

जब बालक परिभाषाओं को अच्छी तरह सीखले तब उसको स्वयं सिद्ध सिद्धान्त और अवाद्योपक्रम सिखाने चाहियें।

एक दिन में एक स्वयंसिद्ध सिद्धान्त से अधिक नहीं

सिखाना चाहिये। एक सिद्धान्त को अनेक अनेक उदाहरण द्वारा समझाना चाहिये। यथा—जो दो वस्तु तीसरी वस्तु के बराबर होती हैं वे आपस में भी बराबर होती हैं।

इसको समझाने की रीति यह है कि बालक से एक रुपये के पैसे और एक रुपये की चव्वनियां मँगानी चाहिये। तब उससे पूछना चाहिये कि ये चार चव्वन्नियां कितने पैसों के बराबर हैं। निश्चय बालक यह उत्तर देगा कि चार चव्वन्नियां चौंसठ पैसा के बराबर हैं। तब उससे पूछो क्यों?

बालक यह कहेगा कि एक रुपये की चार चवन्नियां हैं और एक ही रुपये के पैसे भी हैं, अतः चार चवन्नियां बराबर हुईं चौंसठ पैसों के। फिर उसके इस उत्तर को लेकर उक्त स्वयंसिद्ध सिद्धांत को समझावो, और फिर बालक के सामने नाप कर एक फुट लम्बा लाल कागज़ का टुकड़ा लो और एक ही फुट सफ़ेद कागज का भी टुकड़ा लो और फिर उन दो टुकड़ों को नाप कर दिखावो कि वे दो टुकड़े आपस में बराबर हैं। तब फिर बालक से पूछो कि ये दो टुकड़े आपस में बराबर क्यों हुवे। यदि बालक ने ठीक ठीक उत्तर दे दिया तो अच्छी बात है नहीं तो आप समझा देना चाहिये कि—

लाल कागज़ का टुकड़ा = एक गज।

काले कागज़ का टुकड़ा = एक गज।

∴ लाल कागज़ का टुकड़ा = सफेद कागज़ के टुकड़े के; और फिर किसी कागज़ या तख़्ती पर एक सीधी रेखा खींचो और फिर गज से नाप कर उसी रेखा के बराबर दूसरी रेखा खींचो। तब बालक को यह दिखलावो कि ये दो खींची हुई रेखा आपस में बराबर हैं और पूर्व इनके बराबर होने का कारण बताओ।

फिर काग़ज़ में एक सीधी रेखा खींचो और उस रेखा के बराबर दो और रेखा खींचो और पूर्ववत् उससे यह सिद्ध कराओ कि ये दो पीछे खींची हुई रेखाएं आपस में बराबर हैं।

यथा—क——ख, ग——घ, च——छ,

कख रेखा के बराबर गघ और चछ दो रेखायें खींची गई हैं।

अर्थात् रेखा गघ = रेखा कख
और रेखा चछ = रेखा कख
∴ रेखा गघ = रेखा चछ

तदुपरान्त बालक से यह पूछो कि (अ इ उ, क ख ग, १ २ ३)

∠अ इ उ, ∠क ख ग, और ∠१ २ ३, तीन कोण दिये हुये हैं।

और यदि ∠अ इ उ = ∠१ २ ३
और यदि ∠क ख ग = ∠१ २ ३
तो आगे को क्या होगा ?

एवं समस्त स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों को समझाना चाहिये।

जब बालक सब स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों को खूब अच्छी तरह सीख ले तब उससे अनेक प्रकार से उनका प्रयोग कराना चाहिये।

जब बालक स्वयंसिद्धि सिद्धान्तों का प्रयोग अनायास करने लग जाय तब उसको एक एक करके साध्य सिखलाने चाहिये।

साध्य सिखाने के पूर्व बालक को अधोलिखित बातें समझा देनी चाहिये।

(१) प्रतिज्ञा का भावार्थ।
(२) उस साध्य का चित्र।
(३) यन्त्र द्वारा नापने से प्रतिज्ञा का ठीक होना।
(४) उस साध्य में काम आनेवाले स्वयंसिद्ध सिद्धान्त इत्यादि।

इसके पश्चात् साध्य में प्रवेश करना चाहिये।

यथा—यदि दो सरल रेखायें एक दूसरे को काटें तो सम्मुख के कोण आपस में बराबर होंगे।

इस साध्य में प्रवेश करने के पूर्व अधोलिखित बातें समझानी चाहिये :—

(१) सम्मुख कोण किसको कहते हैं ?
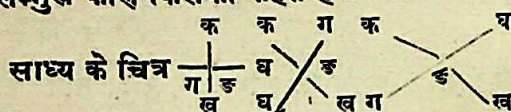
साध्य के चित्र

(३) कौन कौन कोण आपस में बराबर होवेंगे ?

(४) नाप कर दिखलावो कि ∠क ङ ग = ∠ख ङ घ
और ∠क ङ घ = ∠ख ङ घ

(५) इस साध्य में काम आने वाले स्वयंसिद्ध सिद्धान्त और साध्य।

यथाशक्य साध्य के चित्रों का कोई नाम न रखना चाहिये। अंगुली से रेखा और कोणों को बता बता कर साध्य सिखाना चाहिये। इस प्रकार सिखाने से बालक की बुद्धि में साध्य भली प्रकार समा जाता है और फिर वह उस साध्य को भूलता नहीं है अपरञ्च वह साध्यों को सिद्ध करने की शैली को पकड़ लेता है। जहाँ बालक ने साध्यों की सिद्ध करने की शैली पकड़ ली जानो कि उसके लिये ज्यामिति अत्यन्त सरल

हो गई। साध्य के चित्रों के नाम रखने से बालक तर्क शैली को छोड़ कर रटाई में प्रवृत हो जाता है।

जब तक बालक एक साध्य को अच्छी तरह न सीखले तब तक उसको दूसरा साध्य नहीं सिखाना चाहिए।

जब तक ज्यामिति का एक अध्याय समाप्त न होजाय, जब तक वह साध्यों की उपपत्ति शैली को अच्छी तरह पकड़ न ले तब तक उसको अनुमान और अभ्यास के घपले में नहीं डालना चाहिए। पहिली आवृति में ध्यान केवल इस बात का रहना चाहिए कि बालक साध्यों की उपपत्ति शैली को पकड़ लेवे। जहाँ बालक ने साध्यों की उपपत्ति शैली को पकड़ा जानो कि ज्यामिति का द्वार खुल गया, बालक में अनुमान शक्ति का बीज पड़ गया और तर्क शक्ति का आविर्भाव होने लगा।

एक अध्याय समाप्त होने पर उसको दुहरा लेना चाहिए। तत् पश्चात् ऐसे छोटे सरल अभ्यास और अनुमान कराने चाहिए जो संकेत मात्र से अथवा एक दो पद में ही सिद्ध हो सकें।

जब बालक को इसमें अच्छा अभ्यास हो जाय तब दूसरा अध्याय आरम्भ करना चाहिए।

इस अध्याय में पहिले अध्याय की अपेक्षा बहुत कम समय और बहुत कम परिश्रम की आवश्यकता होगी।

प्रथम दो अध्यायों के सीख चुकने पर ज्यामिति की प्राथमिक शिक्षा का अवसान जानो, किन्तु उसके अनुमान और अभ्यासों को समय समय पर कराते रहना चाहिए, क्योंकि ज्यामिति से बुद्धि में पैन आती है, तर्क, कल्पना और अनुमान शक्तियां बढ़ती हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि यह शास्त्र

केवल वास्तु-विद्या और ज्योतिष के लिये ही उपयोगी है, यह बुद्धि के लिये एक प्रकार का रसायन है।

जबसे ज्यामिति आरम्भ होती है तब से एक दिन साहित्य की पढ़ाई के लिए और एक दिन अङ्क गणित को पढ़ाई के लिए और एक दिन बीज गणित की पढ़ाई के लिए और एक दिन ज्यामिति की पढ़ाई के लिए रखना चाहिए।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि युकलेदस वाली प्राचीन ज्यामिति पढ़ाई जाय अथवा आधुनिक नवीन ज्यामिति। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक नवीन ज्यामिति में अनेक स्थलों में बहुत अच्छा और चतुर ढङ्ग रखा गया है और कई अच्छी २ बातें रखी गई हैं किन्तु बुद्धि की सम्वृद्धि के लिये युकलेदस की शैली अच्छी है। वास्तव में प्राचीन और आधुनिक ज्यामिति में बहुत अन्तर नहीं है अतः जो जिसको अच्छी लगे उसने वही पढ़ानी चाहिए।
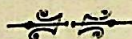
चित्रविद्या।

जब बालक ज्यामिति के दश अध्यायों को सीख चुके तब उसको कुछ दिनों तक यन्त्रों की सहायता से भिन्न भिन्न प्रकार के जटिल ज्यामितिक चित्र खींचना सिखाना चाहिए, फिर वेही चित्र विना यन्त्रों की सहायता से बनाना सिखाना चाहिए। तदनन्तर पुष्प पत्र इत्यादि के सरल आकार मात्रिक चित्रों का प्रतिरूप बनाना सिखाना चाहिए फिर वेही चित्र रेखोन्मीलित रूप में बनाना सिखाना चाहिए. तदनन्तर वेही चित्र पटलोन्मीलित रूप में खींचना सिखाना चाहिए। इसके पश्चात् उसको प्रतिमानिक चित्र-विद्या के प्राथमिक तत्व सिखाने चाहिए, क्योंकि जैसे शरीर और चित्त के लिये सात्विक अन्न, जैसे बुद्धिके लिये गणित-शास्त्र और तर्क-शास्त्र

उपयोगी होते हैं, एवं दृष्टि कौशल और आलोचनशक्ति के लिये चत्र विद्या भी उपयोगी होती है। इस विद्या से दृष्टि सूक्ष्म होती है, हस्त कौशल प्राप्त होता है, मर्मज्ञता का आविर्भाव होता है और कल्पनाशक्ति बढ़ती है। अतएव प्राचीन काल में हमारे भारत में यह विद्या राजकुमारों को भी सिखाई जाती थी। अभिज्ञान-शाकुन्तल में भी इस बात का उल्लेख पाया जाता है। अतः बालकों को यह विद्या कुछ कुछ अवश्यमेव सिखानी चाहिये।

भूगोल।

जब बालक आकार मात्रिक चित्रों को खींचने लग जाय तब उसको उस कोठरी का मान चित्र खींचना सिखाना चाहिए, जिससे वह सुपरिचित हो। प्रथम उस मान चित्र में दिशाएं देकर झरोखे, आले, आलमारियां, अंगीठी इत्यादि लिख कर बालक को बताना चाहिए कि कहाँ पर कौन द्वार कौन झरोखा इत्यादि हैं। फिर वह मानचित्र बालक से खिंचवाना चाहिए। फिर उस कोठरी में रखी हुई दो चार बड़ी बड़ी वस्तु भी उस मान चित्र में भरवानी चाहिएं। तदनन्तर उन वस्तुवों को अपने पहिले स्थान से हटाकर दूसरे स्थान में रख देना चाहिये, और तब फिर बालक से उसी कोठरी का उन वस्तुओं के सहित मानचित्र खिंचवाना चाहिए। जब बालक को इसमें अभ्यास हो जाय तब आप किसी दूसरी कोठरी का मानचित्र खींचकर बालक से पूछना चाहिए कि इस मानचित्र में कहाँ पर कौन द्वार है, कहाँ पर कौन झरोखा है इत्यादि इत्यादि। फिर बालक से भी उस कोठरी का मानचित्र खिंचवाना चाहिए। ततः बालक से अपने घर का मानचित्र खिंचवाना चाहिए। इसके पश्चात् अपने मुहल्ले का,

फिर बालक को अपने नगर या ग्राम के मुख्य मुख्य स्थानों को दिखाकर उसका मानचित्र बनाकर दिखाये हुए मुख्य मुख्य स्थानों को भर कर, उस मानचित्र द्वारा बालक को अपने नगर या ग्राम का भूगोल पढ़ाना चाहिए। एवं जब बालक मानचित्र को समझने लग जाय तब उसको अपने मण्डल या पट्टी के मुख्य मुख्य स्थानों की सैर कराकर मानचित्र द्वारा उसको अपने मण्डल या पट्टी का भूगोल पढ़ाना चाहिये। तब मानचित्र द्वारा उसको अपने जिले का भूगोल पढ़ाना चाहिए, फिर उसी प्रकार अपने देश का।

यह स्मरण रहै कि देश शब्द की व्याख्या कुछ कठिन है। देश शब्द का अर्थ शीघ्र समझ में नहीं आता है। यह समझना कुछ कठिन बात है कि पृथ्वी का कितना भाग अपना देश समझा जाय। देश शब्द की व्याख्या करना तो दैशिक शास्त्र का विषय है, तथापि यहाँ इतना ही समझ रखना पर्य्याप्त होगा कि किसी जाति से बसे हुए और उस जाति से अपनाये हुए पृथ्वी के भाग को उस जाति का देश कहते हैं। यथा— हमारी आर्य्यजाति से बसा हुआ और उससे अपनाया हुआ पृथ्वी का भारतवर्ष नाम का जो भाग है वह हमारा देश कहा जाता है। किन्तु पृथ्वी के ऐसे भाग जहाँ हमारे जाति के लोग बसे हुए हैं किन्तु जिनको अभी उन्होंने अपनाया नहीं है, वे हमारे लोगों के देश नहीं कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ ट्रान्सवाल।

अपने देश के भूगोल में बालक को उसकी सीमाओं का, मुख्य तीर्थ स्थानों का, नदियों का, पर्वतों का, नगरों का, राज्य सम्बन्धी विभागों का, शासन सम्बन्धी विभागों का वर्णन पढ़ाना चाहिए।

राज्य सम्बन्धी और शाशन सम्बन्धी विभागों का वर्णन पहिले पढ़ने से वालक के चित्त में एक प्रकार की संकीर्णता आजाती है। वह अन्य राज्य सम्बन्धी अपने देश के विभागों को पराये देश और यहां के रहने वाले अपने लोगों को पराये लोग समझने लग जाता है ; जैसा कि इन दिनों हमारे शिक्षित लोगों में वहुधा देखने में आता है। किन्तु अपने देश के तीर्थ स्थानों का वर्णन पहिले पढ़ लेने से वालक के चित्त में एक प्रकार की उदारता आजाती है. वह उन तीर्थ स्थानों के अन्तर्गत समस्त भूभाग को अपना ही देश समझने लग जाता है, वहां के रहने वालों को, उनमें श्रद्धा रखने वालों को अपने ही लोग समझने लग जाता है।

भिन्न भिन्न राजाओं के आधीन एक देश के विभागों को राज्य सम्बन्धी विभाग कहते हैं ; यथा हमारे देश के राज्य सम्बन्धी विभाग ये हैं :—अंग्रेज़ी राज्य, नैपाल राज्य, कश्मीर राज्य, उदयपुर राज्य, वड़ौदा राज्य, मैसूर राज्य, हैदरावाद राज्य इत्यादि इत्यादि।

भिन्न भिन्न शाशकों के आधीन एक राज्य के विभागों को शाशन सम्बन्धी विभाग कहते हैं; यथा अंग्रेज़ी राज्य के शाशन सम्बन्धी विभाग ये हैं :—वङ्गाल प्रान्त, संयुक्त प्रान्त, पञ्जाव प्रान्त इत्यादि।

जब वालक को अपने देश का भौगोलिक ज्ञान अच्छी तरह होजाय तव उसको गौलिक मानचित्र द्वारा अर्थात् गोले में वनाये हुवे मानचित्र द्वारा पृथ्वी के आकार का, उसके जल-थल का, द्वीपों का, खण्डों का, आवर्तों का, देशों का, उन देशों में वसी हुवी जातियों का संक्षेप वर्णन सिखाना चाहिए।

स्मरण रहै कि वालकों को ऐसा भूगोल नहीं पढ़ाना

चाहिए कि वे अन्य देशों की छोटी २ नदियों को तक जानें और अपने देश की वाग्मती और विष्णुमती का नाम तक न सुना हो, लण्डन की कोठियों को तक जानें किन्तु अपने देश के मुख्य पीठ और तीर्थ स्थानों का नाम तक न जानें ।

पुस्तक रटाकर भूगोल कभी नहीं पढ़ाना चाहिए, उसकी ऐसी पढ़ाई से लाभ नहीं होता है। मानचित्र द्वारा ही भूगोल पढ़ाना चाहिए ।

भूगोल विद्या के पश्चात् खगोल विद्या और ज्योतिषशास्त्र के मूल तत्वों को सिखाकर ज्योतिष भूगोल और प्राकृतिक भूगोल की प्रारम्भिक बातें सिखानी चाहिएं; यथा—सम्वत्सर षष्टिक, वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात, ज्वार, भाटा, वात्या, वायु, वर्षा, हिम, उपल, तुषार, नीहार, पर्वत, मरु, भावर, तराई इत्यादि इत्यादि के कारण और कार्य्य ।

प्राकृतिक विज्ञान ।

ज्योतिष भूगोल और प्राकृतिक भूगोल सीख लेने पर बालक को औपपत्तिक रीति से क्रमशः पदार्थ विज्ञान की, रसायन शास्त्र की, शारीरिक शास्त्र की, वनस्पति शास्त्र की, जीव शास्त्र को, गणित विषयक बातों को छोड़ कर प्रारम्भिक तत्त्व विषयक बातें सिखानी चाहिए ।

इस में अनेकों को यह सन्देह होगा कि क्या बालक खगोल और प्राकृतिक विज्ञान की बातों को समझ सकेगा ? क्या बालकों को इस छोटी अवस्था में इन बातों को सीखने से कुछ लाभ होगा ?

इसका समाधान यह है कि पूर्वोक्त विधि से ज्यामिति पढ़े रहने के कारण बालक की बुद्धि में पैनी चढ़ी रहती है,

अतः उक्त बातों को समझने में उसको कुछ कठिनाई नहीं जान पड़ती है, ये बातें उसको अति सरल और रसीली जान पड़ती हैं। उक्त बातों को औपपत्तिक रीति से अर्थात् यन्त्रादि द्वारा सिद्धान्तों के दर्शाए जाने से पढ़ने में बालक को बड़ा आनन्द जान पड़ता है, उनका मनोविनोद हो जाता है, प्राकृतिक विज्ञान की पढ़ाई की ओर उनकी अभिरुचि हो जाती है, उनमें तत्त्व दर्शिता और परामर्श शक्ति का आविर्भाव होता है। परा विद्या के दो शाखा रूप अधिभाव शास्त्र और अध्यभाव शास्त्र के मूलाधार जो दैशिक शास्त्र और अध्यात्मक शास्त्र हैं, उन के अङ्ग और उपाङ्गों के प्रारम्भिक तत्वों की पढ़ाई के लिये बुद्धि ठीक हो जाती है।

अधिभाव शास्त्र उस परा-विद्या को कहते हैं कि जो मनुष्य को जीना सिखाती हैं, अर्थात् जिससे मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि आनन्द मय जीवन के लिये कौन कौन बातें अनिवार्य्य हैं और जिसके अनुसार चलने से मानुष जीवन आनन्द मय हो जाता है।

अध्यभाव शास्त्र उस परा-विद्या को कहते हैं कि जो मनुष्य को मरना सिखाती है अर्थात् जिससे मनुष्य को यह ज्ञान होता कि है आनन्द मय मरण के लिये कौन कौन बातें अनिवार्य्य हैं और जिसके अनुसार चलने से मानुष-मरण आनन्द मय हो जाता है।

अधिभाव और अध्यभाव शास्त्रों का विशेष वर्णन माध्यमिक शिक्षा-शैली में किया जाएगा।

इतिहास।

एवं प्राकृतिक विज्ञान की शिक्षा हो जाने पर बालक को

इतिहास की शिक्षा देनी चाहिए, इसके लिये अधो-लिखित बातें आवश्यक हैं :—

(१) इतिहास की पढ़ाई आरम्भ होने के पूर्व बालक की बुद्धि में पैन आजानी चाहिए, उसको कुछ २ लिङ्ग परामर्श शक्ति और तथ्य दर्शिता प्राप्त हो जानी चाहिएँ ।

(२) इतिहास पहिले आलाप द्वारा कथा रूप में सिखाना चाहिए ।

(३) पहिले उसकी औपक्रमिक शिक्षा हो जानी चाहिए । तत्पश्चात् संक्षिप्त रूप में उसको इतिहास आद्योपान्त क्रमशः हैतुक रूप में पढ़ाना चाहिए, फिर वेही बातें उसको पारिणामिक रूप में पढ़ानी चाहिएं ।

(४) पहिले बालक को अपनी जाति का इतिहास सिखा लेना चाहिए ।

(५) इतिहास की शिक्षा अपनी जातीय शैली के अनुसार होनी चाहिए ।

(६) ऐतिहासिक वृत्तान्त सर्वथा सत्य और ज्यों का त्यों होना चाहिए ।

(७) इतिहास में आद्योपान्त एक ही जाति का वृत्तान्त होना चाहिए ।

(८) राजाओं और राज्यों के वर्णन में ही इतिहास का कृत्य समाप्त नहीं हो जाना चाहिए ।

(९) हैतुक और परिणामिक रीति से इतिहास की पढ़ाई हो जाने पर पुष्पित इतिहास की पढ़ाई होनी चाहिए ।

१—जब तक बालक की बुद्धि परिपक न हो जाय, जब तक उसमें कुछ २ लिङ्ग परामर्श शक्ति और तथ्य दर्शिता न आजाय,

तब तक उसको इतिहास नहीं पढ़ाना चाहिए, क्योंकि इतिहास कुछ ऐसा वैसा विषय तो है नहीं, जिसकी उलटी सीधी पढ़ाई से काम चल जाय, स्मरण रहै कि इतिहास एक ऐसा शास्त्र है जो, ठीक ठीक पढ़ाई होने से ठीक ठीक पढ़े हुए वैद्यक के समान उपकारी होता है अन्यथा उलटा सीधा पढ़े हुवे वैद्यक के समान अपकारी होता है। इतिहास दैशिक शास्त्र का मूलाधार है। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य के लिये आयुर्वेद है। एवं जातीय स्वास्थ्य के लिये दैशिक शास्त्र है; जैसे आयुर्वेद में निदान शास्त्र है, एवं दैशिक शास्त्र में इतिहास है, इतिहास का प्रयोजन यह नहीं है कि कोई भाषा शैली सिखाई जाय, सन् तारीखों से मस्तक ठोंसा जाय, वृथा वृत्तान्त रटाये जांय, केवल मनो विनोद किया जाय, किसी के प्रति रागद्वेष उत्पन्न किया जाय; उसका प्रयोजन यह बताने का है कि मनुष्य का स्वजाति से क्या सम्बन्ध है, अपनी जति के उदयावपात से मनुष्य का सुख दुःखों का कैसा समवाय सम्बन्ध होता है, व्यष्टि रूप मनुष्य के किन किन गुण दोषों से समिष्ट रूप जाति का उदयावपात होता है, किसी जाति के उदयावपात के पूर्व कैसे चिन्ह दिखाई देने लगते हैं, उसके व्यक्तियों का लक्ष्य, प्रवृत्ति और चरित्र कैसे हो जाते हैं, किन किन कारणों से मनुष्यों में ऐसे गुण दोष उत्पन्न होते हैं कि जिनसे उनका जातीय उदयावपात होता है, किन उपायों से जाति की ऊर्ध्व-प्रवृत्ति की सम्वृद्धि और अधः प्रवृति की निवृत्ति होती है, किस चर्य्या के अनुसार चलने से भली चङ्गी जाति का अनामय बना रहता है और किस चिकित्सा से अस्वथ्य जाति की अवस्था सुधरती है, जातीय चिकित्सा के लिये कैसा वैद्य और कैसी औषध हितकारी होती है इत्यादि इत्यादि।

अब देखना यह है कि यदि दश वर्ष के कच्चे बालक को

आयुर्वेद की उल्टी सीधी शिक्षा दी जाय और वह उसके अनुसार अपनी या और किसी की चिकित्सा करने लगे तो कैसा अनर्थ हो जाएगा। ऐसे बालकों को आयुर्वेद पढ़ा कर वैद्य बनाने से जो भयंकर फल होगा वही उनको इतिहास पढ़ाने से भी होगा, होगा क्या, हो ही रहा है।

२—आलाप द्वारा कथा रूप में कहे हुये वृत्तान्त पुस्तकों द्वारा पढ़ाये वृत्तान्तों की अपेक्षा बालकों की समझ में जल्दी आते हैं और भूले भी नहीं जाते हैं, एवं बालकों को बोझ भी कम मालूम पड़ता है, इसके अतिरिक्त वादानुवाद होने से इतिहास के सिद्धान्त उनके चित्त में गढ़ जाते हैं।

३—इतिहास की पढ़ाई के पूर्व उसकी औपक्रमिक शिक्षा की आवश्यकता इस लिए है कि बिना इसके इतिहास का मूल तत्व, उसके हैतुक और पारिणामिक रूप बालकों की समझ में नहीं आते हैं।

किसी जाति के उदयावपात वाले समय के प्रधान घटनाओं का, उनके कारण और परिणामों का, उसके मुख्य ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्र के वर्णन को उस जाति के इतिहास की औपक्रमिक शिक्षा कहते हैं।

यथा—राना साङ्गा, शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह, बाजीराव पेशवा के समय के इतिहास की पढ़ाई हमारे जातीय इतिहास की औपक्रमिक शिक्षा कही जाती है।

हैतुक रूप इतिहास उसको कहते हैं कि जिससे यह पता लगता है कि किन हेतुओं से क्या परिणाम उत्पन्न होता है।

यथा—सदाशिव राव के ज़िद्द और स्वैरिता से बनते हुए हिन्दू सामराज्य अथवा हिन्दू जाति को क्या फल भोगना पड़ा।

परिणामकरूप इतिहास उसको कहते हैं कि जिससे यह पता चलै कि किन किन परिणामों के अग्रसर क्या हेतु होते हैं।

यथा—वीर राजपूतों के रहते हुये भारत में सरासर विदेशियों के आक्रमण होते रहने का कारण क्या था? क्योंकर शिवाजी से सूत्रपात किया हुआ हिन्दू सामराज्य रूपी सूर्य्य आकाश के मध्य में ही अन्तर्धान हो गया।

४—इतिहास का केवल मात्र लक्ष्य यह है कि उसके सिद्धान्तों से दीक्षा लेकर व्यष्टि रूप मनुष्य समष्टिरूप स्वजाति की भलाई करें, अपनी जाति के भूत और वर्तमान से उसके भविष्य का अनुमान कर लेवें और तदनुसार कार्य्य करें। अतएव स्वजाति के इतिहास की अपेक्षा करके विजातीय इतिहास पढ़ना क्या है मानो इतिहास के लक्ष्य को उलट देना है, मानों वैद्य से वकालत कराना है। क्योंकि यह तो सबही जानते हैं कि जगद्धात्री भगवती प्रकृति ने जैसे भिन्न भिन्न मनुष्यों को भिन्न भिन्न लक्ष्य, भिन्न २ स्वभाव, भिन्न २ विशेषता दी हैं और उनके उदयावपात के कारण भी भिन्न २ नियत किये हैं, एवं उसने भिन्न २ जातियों को भी भिन्न २ लक्ष्य, भिन्न २ भाव, भिन्न २ विशेषता दी हैं और उनके उदयावपात के हेतु भी भिन्न भिन्न नियत किये हैं। जब तक मनुष्य को अपने देश काल निमित्त का ज्ञान न हो तब तक उसको दूसरों के देश काल निमित्त का ज्ञान प्राप्त करने से लाभ क्या हो सकता है? एवं जब तक मनुष्य को अपनी जाति के लक्ष्य, भाव और विशेषता का ज्ञान न हो, उसके उदयावपात के हेतु मालुम न होंउसके भूत वर्तमान से उसके भविष्य का अनुमान न कर सकता हो तब तक उसको अन्य जातियों की इन बातों को जान कर क्या लाभ होगा?

स्वजाति के इतिहास की उपेक्षा करके अन्य जातियों के इतिहास पढ़ने से अधो-लिखित फल होते हैं:—

(१) मनुष्य की बुद्धि विपरीत हो जाती है; जिस जाति का वह इतिहास पढ़ता है, उसी जाति के रंग में वह रङ्ग जाता है; उसी को सब जातियों का शिरोमणि समझने लगता है; उसके चित्त में यह बात समा जाती है कि जैसा लक्ष्य, जैसा भाव, जैसी विशेषता उस जाति में है, संसार भर में समस्त जातियों का वैसा ही लक्ष्य, वैसा ही भाव और वैसी ही विशेषता होनी चाहिए; उसको यह धारणा हो जाती है कि जिन कारणों से, जिन उपायों से उस जाति का उदयावपात हुआ, अन्य जातियों का भी उदयावपात उन्हीं कारणों से और उन्हीं उपायों से होगा। प्रकृति के नियमों के ओर उसका ध्यान नहीं रहता है।

(२) वह मनुष्य उभयतो भ्रष्ट हो जाता है—अपने जातीय लक्ष्य, जातीय भाव, जातीय विशेषता और जातीय धर्म का ज्ञान न होने से वह अपने पक्ष से भ्रष्ट हो जाता है और दूसरे के पक्ष में मिलने से उसकी गति ठीक वैसी होती है जैसे अपने पक्ष को छोड़ कर दूसरे के पक्ष में मिलने वाले हितोपदेश के नीले रङ्ग से रङ्गे हुए शृगाल की हुई।

(३) स्वजातीय ऐतिहासिक ज्ञान के विना विजातीय ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त करने वाला मनुष्य उस ग्वाले के समान निकम्मा, विफल प्रयास और हास्यास्पद होता है जो गोरक्षा विषयक बातों की उपेक्षा करके भोट के न्यङ्क और चोक नामक वन्य पशुओं की चेष्टा विषयक पुस्तकों का मनन किया करता है।

(४) इतिहास की पढ़ाई अपनी जातीय शैली से होनी

चाहिए अर्थात् अपने जातीय लक्ष्य, जातीय भाव, जातीय विशेषता के अनुकूल और अपने जाति का हिताहित का विचार करके होनी चाहिए; क्योंकि विदेशी शैली के अनुसार अपने इतिहास की पढ़ाई से महा अनर्थ हो जाता है; ऐसी पढ़ाई से बालकों को अपने जातीय लक्ष्य, जातीय भाव, जातीय महात्माओं के प्रति अवमानना हो जाती है; उनको अपनी सभी बातें बुरी भाषमान होने लगती हैं—क्योंकि एक जाति के लिए जो बात हितकर होती है दूसरी जाति के लिए उसका अनर्थकर होना सम्भव है; जो बात अपनी जाति को अच्छी लगै सम्भव है कि वही बात दूसरी जाति को बुरी लगै; प्रत्येक मनुष्य अपने ही लक्ष्य, अपनी ही विशेषता को अच्छा समझता है; जितना मनुष्य अपने देश काल निमित्त को समझता है, उतना वह दूसरे के देश काल निमित्त को नहीं समझ सकता है; मनुष्य दूसरों की सभी बातों को अपने ही ढङ्ग से देखता है। अतएव पराई शैली के अनुसार अपनी जाति का इतिहास पढ़ने से मनुष्य को अपनी सभी बातें विपरीत जान पड़ती हैं, ऐसे इतिहास कभी हितकर हो नहीं सकते हैं—विचारिये अदिलशाही और औरङ्गज़ेबी बखरों में दिये हुए शिवाजी का जीवन चरित्र पढ़ने से, अथवा ईसाइयों द्वारा बनाये हुए भगवद्गीता का भाष्य पढ़ने से बालकों को शिवाजी और गीता पर कितनी श्रद्धा हो सकती है—विदेशी शैली से लिखे हुए इतिहास ठीक ऐसे हितकर होते हैं जैसे देहली से आये हुए हिन्दू बिसकुट शुद्ध होते हैं।

(५) इतिहास के लिए सब से आवश्यक बात यह है कि उसमें जो कुछ वृत्तान्त दिया हो वह सब सत्य हो और उसका वर्णन ज्यों का त्यों दिया हो; उसको किसी के राग द्वेष, हिताहित, खुशी नाराजी, खरी खोटी से कुछ प्रयोजन न

हो । क्योंकि इतिहास का प्रयोजन मनुष्य के सामने भूत से उदाहरण और वर्तमान से उपनय उपस्थित करके भविष्य का अनुमान कराना है । जब तक उदाहरण और उपनय ठीक न होंगे तब तक अनुमान कभी ठीक हो नहीं सकता है ; यदि किसी को यह मिथ्या उदाहरण बताया जाय कि—

जहाँ जहाँ धुवाँ होता है वहाँ २ पानी होता है ;
जैसा रेल के इञ्जिन में देखा जाता है ।
उस पर्वत के शिखर में धुवाँ है ।

तो उस पर्वत में भी पानी होने का अनुमान होगा । किन्तु यह अनुमान कभी ठीक नहीं हो सकता है ।

मिथ्या उदाहरण, मिथ्या उपनय से मिथ्या अनुमान किए हुए मनुष्य को सत्य को दबानेवाले और मिथ्या से प्रसन्न होने वाले मनुष्य को शाहंशाह औरंगजेब के समान पछताना पड़ता है ।

(६) इतिहास में आद्योपान्त एक ही जाति का वर्णन होना चाहिए ; जब तक ऐसा न होगा तब तक उस अधूरे इतिहास से न कुछ शिक्षा मिलैगी, और न कुछ ठीक ऐतिहासिक अनुमान होगा । अतः आद्योपान्त उसमें एक ही जाति का वर्णन होना चाहिए ; ऐसा नहीं होना चाहिए कि कहीं की मिट्टी कहीं का रोड़ा भानमती ने तमाशा जोड़ा, जैसा कि इन दिनों स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले इतिहासों में पाया जाता है ; उन अद्भुत चितकबरे इतिहासों को देख कर बड़ी हँसी आती है—नाम से तो उनके मालूम पड़ता है कुछ, किन्तु पढ़ने से बात पाई जाती है बिलकुल दूसरी ; उनके नाम से तो यह जान पड़ता है कि उनमें भारतीय जाति का वृत्तान्त होगा किन्तु पढ़ने से उन में पाया जाता है विदेशी आगन्तुक राज्य मात्रों

का क्रमशः वर्णन; इन इतिहासों में केवल कोल, द्राविड़, आर्य्य, पारसी, ग्रीक, शक, हूण, तातार, तुर्क, अरब, पठान, मुगल और अंग्रेज़ों के भारत विजय के अतिरिक्त और कोई विशेष बात पाई नहीं जाती है; उस में हमारी जाति का वृतान्त बहुत कम मिलता है; चाहे नाम उनका भारत का इतिहास हो परन्तु वर्णन उनमें भारत के केवल उन अंशों का दिया जाता है, जो विदेशियों के अधिकार में हों, कहीं २ प्रकरण वशात् अन्य अंशों का भी वर्णन आजाय तो यह दूसरी बात है।

ऐसे इतिहासों से इतिहास का अर्थ तो सिद्ध होता नहीं; हाँ इतना अवश्यमेव हो जाता है कि मस्तिष्क वृथा वृतान्तों से भर जाता है; चित्त में दर्प और पण्डित-मानिता आजाती है; हृदय से जातीय भाव उठ जाता है; अपना जातीय लक्ष्य तुच्छ भासमान हो जाता है; जातीय हिताहित से उदासीनता हो जाती है।

७—राजाओं और राज्यों के वर्णन में ही इतिहास का कृत्य समाप्त हो जाने से जाति के उन मुख्य व्यक्तियों का वृत्तान्त छूट जाता है कि जिनके गुण दोषों के कारण जाति का उदयावपात होता है। इतिहास के जाति के उन मुख्य व्यक्तियों का चरित्र वर्णन हुए बिना, ऐतिहासिक वृत्तान्तों का गोरख धन्धा समझ में आ नहीं सकता है; न जाति के उदयावपात का कुछ पता चल सकता है; और न उसके भविष्य का अनुमान हो सकता है। अतः इतिहास में ऐसे मुख्य व्यक्तियों का चरित्र वर्णन अवश्यमेव होना चाहिए कि जिनके देशभक्ति, जिनके दैवी सम्पद् के कारण उनकी जाति का अभ्युदय होता है अथवा जिनके विश्वासघात, जिनके देश द्रोह, जिनकी आसुरी और

पैशाची सम्पद् के कारण उनके देश उनकी जाति का अवपात होता है।

८—किसी जाति रूप वृक्ष के पुष्प, उसके मान पता का रूप मुख्य मुख्य ऐतिहासिक महात्माओं के संक्षिप्त चरित्र माला को उस जाति का पुष्पित इतिहास कहा जाता है। पुष्पित इतिहास में ऐसे पुरुषों का चरित्र वर्णन होना चाहिए कि जिन्होंने बाहुबल से, अथवा बुद्धि बल से, अथवा धन से, अथवा कला कौशल से, अथवा और किसी प्रकार लक्ष्य से भ्रष्ट होती हुई अपनी जाति को फिर ठीक मार्ग में रख दिया हो, अथवा जिन्होंने अधोमुखी स्वजाति को ऊर्ध्वमुखी बना दिया हो, अथवा जिन्होंने अपनी जाति को कन्दरा से निकाल कर मैदान में रख दिया हो, अथवा जिन्होंने अपनी जाति का मान बढ़ाया हो उसका मुख उज्वल किया हो, अथवा जिन्होंने स्वदेश, स्वजाति के लिये, बाणशय्या ग्रहण की हो।

पुष्पित इतिहास से यह लाभ होता है कि उससे मनुष्य में जातीय भाव लहरें मारने लगता है, उसमें देशभक्ति का संचार होने लगता है, हृदय दौर्बल्य चला जाता है, पौरुष की ओर अभिरुचि हो जाती है।

खेद की बात है कि जिस प्रकार का इतिहास बालकों को पढ़ाया जाना चाहिए अब तक वैसा कोई इतिहास देखने में नहीं आया, किन्तु उसके लिये सामग्री उपस्थित है, यादवनाथ के समान कई अच्छे २ इतिहास लेखक भी इस समय भारत में वर्तमान हैं। यदि ऐसे इतिहास के लिए लोगों की उत्कण्ठा हुई तो कदाचित उसका अभाव बहुत दिनों तक न रहेगा।
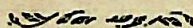
संस्कृत भाषा ।

संस्कृत भाषा का इन दिनों यद्यपि न कोई महत्व है, न उससे कोई आर्थिक लाभ होता है, और न कोई व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध होता है, किन्तु जातीय दृष्टि से उससे असीम लाभ है। हमारे जातीय महत्व, जातीय लाभ के लिए एक पक्ष से वह अनिवार्य्य है, और दूसरे पक्ष से अत्यन्त आवश्यक है।

अनिवार्य्य वह इस लिये है कि बिना उसकी सहायता के हम अपने जातीय विद्या भाण्डार में प्रवेश नहीं कर सकते हैं, चाहे अनुवाद द्वारा दूर से उसके दर्शन मिल जाँय; और जब तक हम अपने जातीय विद्या भण्डार का आश्रय न लेंगे तब तक हमारे पास हमारे जातीय महत्व का प्रमाण क्या और आशा क्या?

आवश्यक इसलिए कि उसका आश्रय लेने से एक दूसरे से अलग होती हुई हमारी प्रान्तीय भाषाओं का पुनः सङ्गम हो जायगा; भिन्न भिन्न प्रान्तवासी हमारे लोग जो अन्य प्रान्त वासी अपने भाइयोंकी भाषाओं को नहीं समझते हैं, अपनी २ भाषाओं में संस्कृत प्राचुर्य्य करने से एक दूसरे की भाषा को समझने लग जाएँगे; एवं कदाचित् कालान्तर में समस्त भारत में एकही भाषा प्रचलित हो जाय, यह बात सिद्ध है कि जिस हिन्दी, जिस बङ्गाली, जिस महाराष्ट्री, जिस गुजराती, अथवा भारत की जिस भाषा में संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य्य होता है वह दूसरे प्रान्त में अनायास ही समझी जा सकती है; जितना इसमें संस्कृत शब्दों का ह्रास होता जाता है उतना उसका समझना कठिन होता जाता है।

अपरञ्च संस्कृत भाषा को छोड़ देने से हमारे हाथ से एक बड़ी भारी पैतृक सम्पति चली जाएगी; बड़ी ऊंची मान

पताका गिर पड़ेगी, अति सुन्दर साहित्य रूपी चन्द्रमा अस्त हो जायगा, पराविद्या रूपी सूर्य्य अन्तर्धान हो जायगा, अमोघ संजीविनी महौषधि का लोप हो जायगा, और फिर छोटे छोटे नक्षत्र तारागृहों का भरोसा करना पड़ेगा, अन्त में हमारी आर्य्य जाति बहरोटिया कहलाने लगेगी।

बाल शिक्षा काल में संस्कृत की केवल इतनी पढ़ाई होनी चाहिए कि गीता के द्वितीय, दशम और एकादश अध्याय अर्थ सहित पढ़ाये जांय, शब्द और धातुओं के रूप कण्ठस्थ कराये जांय, और तदुपरान्त अष्टाध्यायी और कोई अच्छा कोष कण्ठस्थ कराये जांय ; इन दिनों अमर कोष सबसे अच्छा कोष समझा जाता है। संस्कृत की शेष शिक्षा माध्यमिक शिक्षा काल में होनी चाहिए।

कोई विदेशी भाषा बाल शिक्षा काल में नहीं पढ़ानी चाहिए, उसकी पढ़ाई माध्यमिक शिक्षा काल में ही ठीक होती हैं, किन्तु इन दिनों भारत में अनेक कारणों से अंग्रेजी भाषा अत्यावश्यक हो रही है, अतः बालशिक्षा काल में ही उसका पढ़ाना आवश्यक समझा जाय तो पूर्वोक्त प्रकार से बाल-शिक्षा पूर्ण हो जाने पर थोड़ा २ करके वह पढ़ाई जाय ; किन्तु इससे पूर्व नहीं। यह स्मरण रहे कि विदेशी भाषा की केवल इतनी आवश्यकता होती है कि उस भाषा में लिखी हुई और बोली हुई बातें अच्छी प्रकार समझ में आजांय और उस भाषा में अपने विचार प्रकट करने की कुछ २ शक्ति आजाय, इससे अधिक सीखी जाय तो अयं विशेषः किन्तु ऐसा न हो कि वह विद्या की पराकाष्ठा समझी जाय, उसके सीखने में बुद्धि और पराक्रम का क्षय हो जाय।

लोक शिक्षा।

जब बालक समाचार पत्रों को पढ़ने और समझने लग जाय तब उसके लिये कोई अच्छे २ नाना विषयक पत्र, और समाचार पत्र मंगवा देने चाहिए जिनको वह अवकाश मिलने पर पढ़ता रहै। समय समय पर उसको अपने साथ सभा समितियों में, सार्वजनिक परिषदों में भी ले जाना चाहिये। उक्त प्रकार बाल-शिक्षा हो जाने पर बालक को अपने देश काल निमित्त के अनुसार अपने साथ कुछ तीर्थ यात्रा और देशाटन करालाना चाहिए, फिर कुछ समय उसको विश्राम, मनन और निदिध्यास के लिये देना चाहिए, इस प्रकार बालक लोक वृत्तान्त से सुपरिचित रहता है, उसके विचार विस्तीर्ण हो जाते हैं और उसके चित्त से ब्रीडा और भीरुता चली जाती हैं, मानो खड्ग में पानी चढ़ जाता है।

—:o:—

अब अन्त में यह निवेदन है कि अनेक कारणों से इस बाल-शिक्षा शैली में अनेक त्रुटियां रह गई हैं; उनमें से एक त्रुटि यह है कि इस शैली के अनुसार केवल शिक्षित मनुष्य ही अपने बालकों को शिक्षा दे सकते हैं, किन्तु उन लोगों के लिए, जो इस शैली को अच्छा समझें और इसके अनुसार अपने बालकों को शिक्षा भी देना चाहें किन्तु कारण वशात् स्वयं ऐसा कर न सकें, कोई उपाय बताया नहीं गया, किन्तु जब तक यह निश्चय न हो कि शिक्षित समाज को यह शैली रुचिकर हुई, वह इस शैली को व्यावहारिक समझती है और इस ओर उसकी प्रवृत्ति हुई है तब तक उक्त उपाय में लेखनी उठाना वृथा है। हाँ, यदि शिक्षित समाज को यह बाल-शिक्षा-शैली अच्छी लगी तो कालान्तर में उक्त उपाय का वर्णन किया जायगा।

यह नहीं समझना चाहिए कि यह बाल-शिक्षा-शैली अद्वितीय शैली है; ऐसी अनेक शैलियां और एक से एक अच्छी हो सकती हैं। जिसको जो शैली अच्छी लगे, जो शैली सरल और हृदयंगम जान पड़े उसको उसी के अनुसार काम करना चाहिए। हाँ, आवश्यक बात यह है कि येन केन हमको अपने बालकों की शिक्षा अपने हाथ में लेनी चाहिये, येन केन उनमें पौरुष, विवेक और त्याग का आवाहन करना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि बिना सर्कारी इम्तिहान पास किए बालकों को नौकरी नहीं मिलेगी, उनका रोब का डङ्का नहीं बजेगा। न सही; इससे हानि क्या; हानि तो अपनी आजीविका का दूसरे के हाथ में चले जाने में है। नौकरी के चस्के का वर्तमान परिणाम को देखिए और भावी परिणाम का अनुमान कीजिए, फिर जैसा उचित जान पड़े वैसा कीजिये, दुर्भाग्य बशात् यदि यह बुरा चस्का छूट नहीं सकता है, तो कम से कम बाल शिक्षावसान तक तो अपने बालकों की शिक्षा अपने हाथ में रखिए, और सर्कारी स्कूलों की पढ़ाई का भी ध्यान रखते जाइए, ताकि बाल-शिक्षाके समाप्त होने पर बालक मेट्रिक्युलेशन अथवा उसके बराबर और कोई सर्कारी इम्तहान दे सके। इससे अवश्यम्भावि एक लाभ तो यह होगा कि जिन बिचारे गरीब बालकों की शिक्षा न तो घर में हो सकती है और न स्कूलों में उनको स्थान मिल सकता है वे स्कूलों में भर्ती हो सकेंगे; अधिक लोग शिक्षा पा सकेंगे। और दूसरा लाभ यह होगा कि शिक्षित-समाज को देखादेखी तदितर समाज भी उसका अनुकरण करने लग जायगी, क्योंकि "यद् यद् आचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः।" जब शिक्षित-समाज ही अपने बालकों की शिक्षा अपने हाथ में नहीं लेगी तो अशिक्षित समाज का ऐसा करना असम्भव है। यदि

हमारी शिक्षित-समाज को इतनी छोटी बात करने का भी साहस और शक्ति नहीं है, तो क्या इसी साहस और इसी शक्ति के प्रताप से हमलोग अपनी प्राचीन महिमा को प्राप्त करना चाहते हैं ; ऐसे ही लोगों के बीच कर्ण और अभिमन्यु उत्पन्न होवेंगे, ऐसे ही साहस और ऐसी ही शक्ति के भरोसे हम अपने को स्वराज्य के योग्य समझे बैठे हैं ; इसी साहस और इसी शक्ति को लेकर हम जौन बुल के कन्धे से कन्धा मिलाकर कैसर की केशरी बाना पहिनी हुई प्रजा को नीचा दिखाना चाहते हैं, इसी साहस और इसी शक्ति से हम वाणिज्य के अखाड़े में जापान और अमेरिका को ललकारना चाहते हैं। स्मरण रहै कि यदि हमारी दशा ऐसी ही रही, यदि हमने अपने पैरों चलना न सीखा तो जानो कि यक्ष्मा काष्ठा गत हो चला, अब रोगी के जीने की आशा नहीं, दीप का तैल बीत चुका, बीच बीच के स्पन्दन मात्र से प्रकाश हो नहीं सकता। अब घोर अन्धकार निकट है।

किन्तु भय्या मेरे ! अनुमान तो यह होता है कि भारत के भविष्यरूप आकाश मण्डल में प्राची दिशा में लालिमा आचली, नगाधिराज के शुभ्र शिखर कोमल बालारुण से रंजित हो चले हैं ; अब भगवान तिमिरारि के उदय होने में विलम्ब नहीं ; अब स्यामकल्याण गाना वृथा है, अपनी हँसी कराना है ; समय अब भैरवी का हो चला ; उत्तराभिमुख होकर भैरवी गाते हुवे जो महात्मा प्रयाण करजावेंगे, भगवान नन्दीकेश्वर उनको अपनायेंगे, अथवा जो भाग्यशाली जीते रहेंगे वे इस रमणीय प्रभातश्री का भोग करेंगे।

इतिशम्।

बाल-शिक्षा-शैली।

शुद्धाशुद्ध पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	४	शाशन	शासन
१	६,७,८,९	हुये	हुए
२	२४	लगीं	लगी
३	१३	।	?
५	४	कोलाहाल	कोलाहल
६	२	स	से
,,	१६	के	से
७	४	कादाचित	कदाचित्
७	०	व्रतिमान	वर्तमान
८	५	यह	ये
११	०	क्षिक्षा	शिक्षा
१२	१७	है	हैं
१६	१२	एव	एवम्
१८	६	बाल्यवस्था	बाल्यावस्था
१९	२०	लाते	जाते
२१	५	दर्शान	दर्शाने
,,	११	वर्ततमान	वर्तमान
,,	१९	अजोविका	आजीविका
२२	२५	मज़ूर	मजदूर
२४	२	पराये	पराया
२५	२२	ह	है
२६	२०	सन्तता	सन्तानों
२८	२०	खड़ा	खड़े
३२	०	उपक्षित	उपेक्षित
,,	१६	शारिरीक	शारीरिक
,,	१७	अरुची	अरुचि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२	१६	?	३
३५	२	वारा	वौरा
,,	८	भाजन	भोजन
३७	२३	समझे	समझें
३६	२६	वृत्त काठिन्य	वृत्तकाठिन्य
४२	२४	सम्वृधि	सम्वृद्धि
४४	१३	अनुमंग	अनुसंग
५१	१	परामश	परामर्श
५२	१	वाह्य ज्ञान	वाह्यज्ञान
५५	२६	व	वे
५७	३	कसी	कैसी
,,	६	नीच वृति	नीचवृति
५६	१६	शास्त्रा	शास्त्री
६०	६	परिवतन	परिवर्तन
,,	२०	किन्तु	किं नु
,,	२१	महात्पाप	महत्पापं
,,	२६	उपपद्यत	उपपद्यते
,,	२७	त्यक्तोत्तिष्ट	त्यक्त्वोत्तिष्ट
६१	१०	ऐसा	ऐसी
६२	६	हा	हो
,,	२६	रहै	रहे
६३	६	आदश	आदर्श
६४	६६	महापुरपों	महापुरुषों
६५	१२	राजसा	राजसी
६७	१३	पोरुप	पौरुप
६७	१६	हा	ही
६८	२६	अत्यन्त अत्यन्त	अत्यन्त
२७	३	वातों	बातों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७२	११	पूर्वाधः	पूर्वार्धः
७३	१६	लगै	लगे
७४	१४	स्वय	स्वयं
७५	६,१०	के के	के
,,	२४	अंकरित	अंकुरित
७६	१	खिंचकर	खींचकर
,,	२२	हूए	हुए
७८	११	दशन	दर्शन
७६	४	व्याखानों	व्याख्यानों
८३	१०	चहिये	चाहिये
,,	११	हों	हो
८४	४	कष्ट अस्त	"कष्ट" "अस्त"
८५	१५	थाड़ा	थोड़ा
,,	१७	स	से
८६	१	घटनाएं"	घटनाएं
६१	८	दा	दो
,,	२२	का	को
६५	१०	समापवर्त्यक	समापवर्तक
६७	१	हैं	है
,,	५	सकती	सकता
१०६	३०	बालक	बालक का
१०७	४	क	को
१११	२१	स्वयंसिद्धि	स्वयंसिद्ध
११६	२५	शाशन	शासन
११७	१	शाशन	शासन
,,	१७	शाशकों	शासकों
,,	१८	शाशन	शासन
१२१	९	गणित	इतिहास

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	शुद्ध
१२१	२२	अद्यःप्रवृति	अधःप्रवृति
१२३	०	प्राकृतिक विज्ञान	इतिहास
१२५	०	,,	,,
१२६	१८	हागा	होगा
१२७	०	प्राकृतिक विज्ञान	इतिहास
,,	२	आय्य	आर्य्य
,,	८	पकरण	प्रकरण
१२८	३	पता का	पताका
,,	६	माग	मार्ग

भूमिका ।

१	२१	हुये	हुए
२	३	,,	,,
६	६	मिलन	मिलन।
६	१४	सचल	सत्य